महाभाव – दिनमणि श्रीराधाबाबा

(प्रथम खण्ड)

पृष्ठ संख्या 001-100 तक

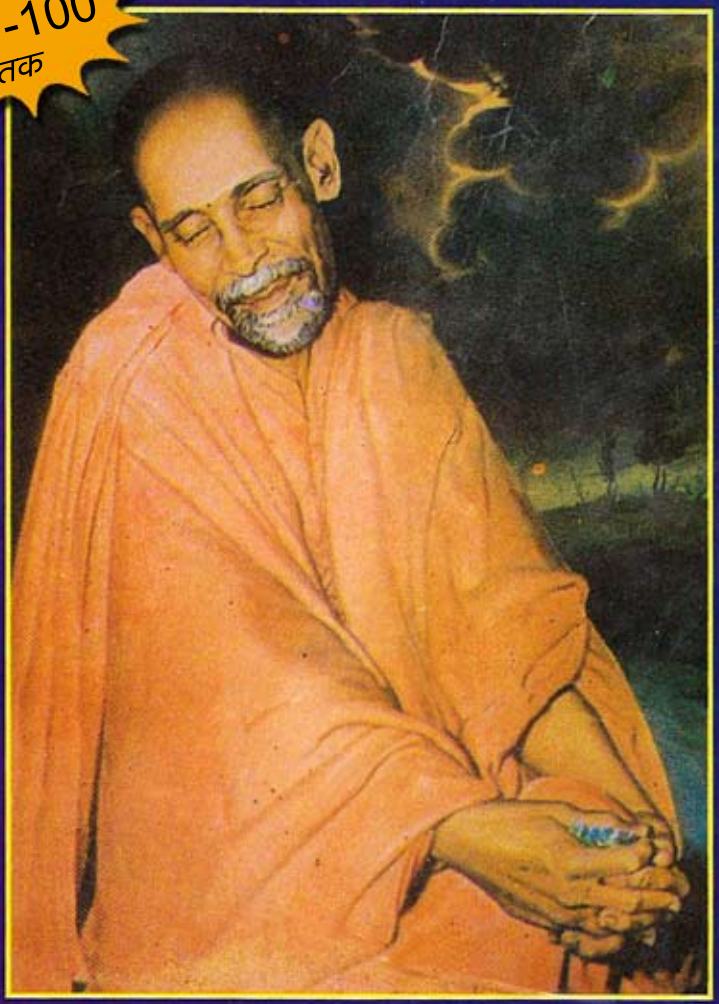

साधु कृष्णप्रेम

महाभाव दिनमणि श्री राधाबाबा

❖

साधु कृष्णप्रेम

प्रकाशक

साधु कृष्णप्रेम अध्यक्ष

श्रीमती विमलाबाई चैरिटी ट्रस्ट

षोड़शगीत मंदिर,अनाथालय के पीछे, बीकानेर ३३४००१ (राजस्थान)

राधामाधव प्रकाशन, षोड़शगीत मंदिर
अनाथालय के पीछे,
बीकानेर

(सर्वाधिकार सुरक्षित)

प्रथम प्रकाशन : 1100 प्रतियाँ

द्वितीय प्रकाशन : 500 प्रतियाँ

न्यौछावर रु॰ २०० मात्र

मुद्रक

भण्डारी ऑफसेट,

जोधपुर

फोन : 742224

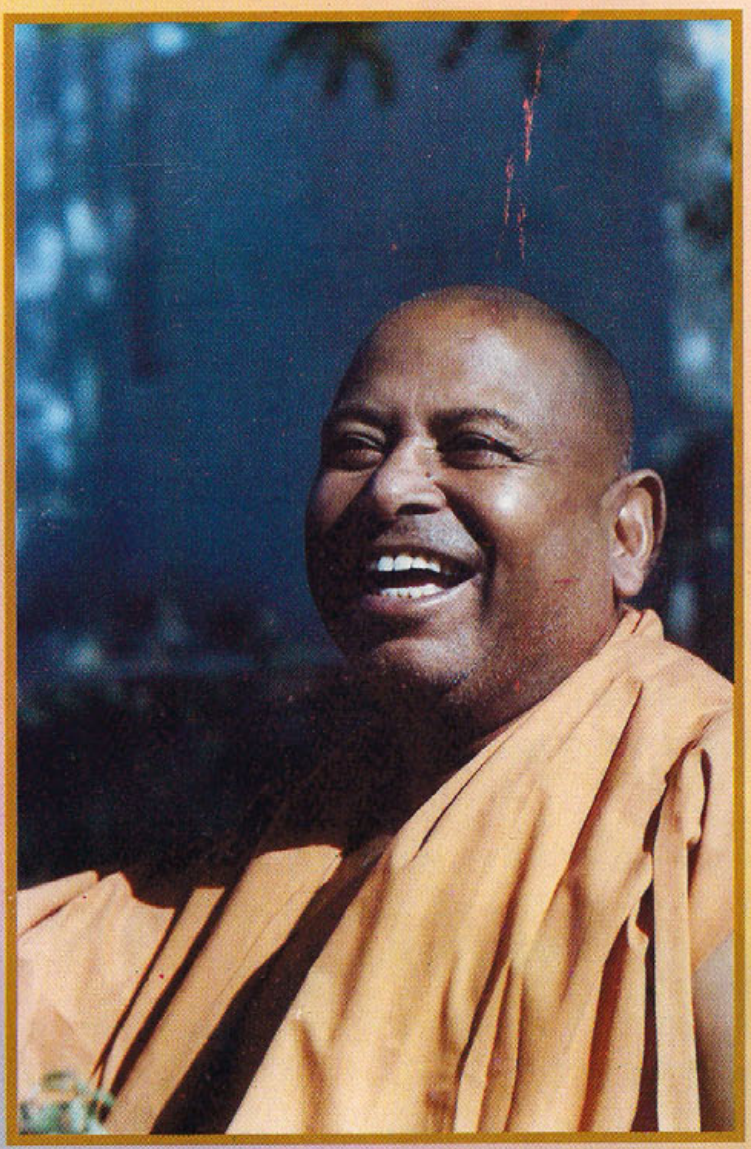

स्वामी कृष्ण प्रेम महाराज

॥ श्री गुरुदेव ॥

निवेदन

बाबा प्रेमस्वरूप थे, प्रेमस्वरूप है, इसीलिये उनके गुरुदेव ने उनको कृष्णप्रेम नाम दिया । बहुत वर्षों से बाबा ने उनके पौत्र और बहु को देखा न था, उनका अत्यन्त आग्रह था कि मैं उन्हें लेकर बाबा के पास पहुंचू । तदनुसार 6 नवम्बर 99, को वानप्रस्थ आश्रम जयपुर में मैं सपरिवार व अपने अन्य मित्रों के साथ बाबा के पास पहूँचा ।

बाबा ने बहुत प्रेम किया । चिकित्सकीय सलाह के विपरीत बाबा ने हमसे खूब बातें की । बहू को विशेष प्रेम दिया । मेरे एक मित्र के पुत्र को जन्म दिन पर ईश्वर भक्त बनने का आशीर्वाद दिया । श्री गुरुगीता सुनी ।

बाबा ने कहा बेटा मुझे कोई उपयुक्त पात्र नहीं मिला जिसे मैं अपनी आध्यात्मिक निधि हस्तान्तरित कर (सौंप) सकता । बाद में बोले कि इस शरीर का प्रयोजन समाप्त हो गया है, अब यह जायेगा । फिर मुझसे पूछा, "क्या तूने मेरी पुस्तकें पढ़ी हैं ?" मैंने नकारात्मक उत्तर दिया क्योंकि मुझे तो यह ज्ञात भी नहीं था कि बाबा ने कोई पुस्तक लिखी हैं । उसके बाद बाबा ने अपने गुरु पूज्य राधा बाबा के जीवन एवं उनके रस दर्शन पर लिखित चारों पुस्तकें मुझे दी । अत्यन्त प्रेम एवं आग्रह से कहा, बेटा मैंने अपना सब कुछ इसमें उडेल दिया है, तू इसे जरुर पढ़ना ।

बाद में बाबा ने राधा बाबा की जीवनी के प्रथम खंड के बारे में कहा कि बेटा यह प्रथम भाग पूरी तरह समाप्त हो गया है । मैं जानता हूँ कि तू भी मेरी तरह फकीर है लेकिन यदि कोई उपयुक्त व्यक्ति मिले तो इस प्रथम खंड का पुनर्मुद्रण कराना है ।

जैसा कि बाबा ने कहा था तीन सप्ताह बाद 1 दिसंबर 99 को प्रातः काल बहा मुहूर्त में उन्होंने अपने को स्थूल देह से विलग कर लिया । सिद्ध पुरुष का हर कार्य सिद्ध होता है । तदनुसार उनका यह संकल्प भी पुस्तक में पुर्नमुद्रण के रूप में परिणीत हो रहा है ।

इस पुनर्मुद्रण में एक ईश्वर भक्त का आभार प्रगट करना जरुरी है जो निस्वार्थ रुप से इस शुभ संकल्प के क्रियान्वयन में माध्यम बने । जिनके सहयोग से यह कार्य अतिशीघ्र पूर्ण हो गया । उन्हें एवं इसके प्रकाशन में जुड़े सभी लोगों को पूज्य बाबा का आशीर्वाद प्राप्त होगा, यह मेरा विश्वास है ।

श्री गुरुदेव का ही

श्री राधे

पूज्य कृष्णप्रेम बाबा का दास के प्रति स्नेह-भाव सदा से है। इसी भाव से उत्साहित हो, मैंने कृष्णप्रेम बाबा से निवेदन किया था कि हम सभी के हृदयधन पूज्य श्रीराधाबाबा के चिरभिलषित चरित्र को लिखकर भक्त-जगत् को प्रदान करने की कृपा करें। पूज्य कृष्णप्रेम बाबा ने अपने स्वल्प साधनों में रहते हुए भी पू० श्री राधाबाबा का अतिशय रसमय चरित्र लिखा, अथवा यों कहें कि साक्षात् रसराज प्रियतम श्यामसुन्दर ने अपनी प्रिया का चरित्र कृष्णप्रेम बाबा को यंत्र बनाकर लिखाया। परन्तु जो भी चरित्र बना है, वह सिद्ध भक्त-समाज, साधन-परायण जन एवं साहित्यानुरागी सभी प्राणियों के लिये परमोपयोगी बना है।

श्रीमद्भागवत में आया है कि परीक्षित् ने श्री शुकदेवजी महाराज से कहा "प्रभु, मुझे भूख, प्यास, मृत्यु, भय कुछ नहीं है। मुझे तो आप भक्तों के चरित्र सुनाते जाइये। भक्तजनों के हृदय में छिपी इस अभिलाषा की पूर्त्ति भगवान् करते रहते हैं।

उसी कृपा का प्रतिफल यह श्री राधाबाबा का रसमय चरित्र है। जो हमारे जैसे अल्पज्ञ, अल्पशक्ति के साधनहीन जनों को भी भाव-मार्ग में चलने की प्रेरणा एवं शक्ति देगा। यह मेरा हृदय कहता है।

सज्जन इस भावग्रन्थ को शिरोधार्य ही नहीं हृदय में धारण करेंगे। यही पू० कृष्णप्रेम बाबा के सद् प्रयास का वास्तविक मूल्य है। अधिक क्या लिखूँ ....

दास

काशीप्रसाद श्रीवास्तव

महाभाव-दिनमणि श्रीराधाबाबा

(प्रथम खण्ड)

प्रथम भाग

(जन्म, शिक्षा, क्रान्तिकारी जीवन, जेल-यात्रायें आध्यात्मिक-जीवन का श्रीगणेश, सन्यास-ग्रहण)

(सन् १९१३ से १९३५ ई. तक)

अनुक्रमणिका

क्रम	विषय सूची	पृष्ठ संख्या
१.	पू० पोद्दार महाराज की पुत्री अ. सौ. सावित्रीबाई के आशीर्वचन	
२.	आत्मकथ्य	
३.	समर्पण	
४.	प्रकाशकीय वक्तव्य	
५.	कुल परिचय	१
६.	वात्सल्यमूर्त्ति--जननी	४
७.	नामकरण-संस्कार एवं बालजीवन	५
८.	सदाशिव का रक्तार्चन	५
९.	रामानन्दी सन्त का दृष्टिपात	
१०.	शिवकृपा से मेड़ल (Medal) पुरस्कार	८
११.	रमल विद्याविद् साधु की भविष्योक्ति	१०
१२.	शिक्षक खालिकसाहब	११
१३.	महासिद्ध सन्त से मिलन	१२
१४.	विप्लववादियों के मध्य	१४
१५.	महात्मा कुम्हार से रक्षा-कवच	१८
१६.	प्रेत से सहयोग	२१
१७.	जेल में दारुण यंत्रणा एवं भगवत्कृपा का प्रकाश	२३
१८.	गायिका दुर्गेशनन्दिनी	३०

अनुक्रमणिका

क्रम	विषय सूची	पृष्ठ संख्या
१९.	सेवाभाव	३२
२०.	विचार मंथन	३३
२१.	गृहस्थ जीवनगत अशान्ति	३७
२२.	सन्यास की पूर्व-भूमिका	३९
२३.	सन्यास-ग्रहण	४३
२४.	माता-पिता को सन्यासी पुत्र के दर्शन	४५
२५.	सन्यासोपरान्त स्कूली शिक्षा	५१
२६.	श्रीमद्भगवद्गीता निष्ठा	५४
२७.	क्रान्तिकारी परिवारों के लिये गीता-प्रवचन	५७
२८.	बस में पुलिस दरोगा का दुर्व्यवहार	६०
२९.	हिंस्र व्याघ्र से भेंट	६१
३०.	हठयोग से शरीर कष्ट एवं प्राकृतिक चिकित्सा लाभ	६२
३१.	पुलिस सन्यासी वेष में	६४
३२.	स्वामी रामसुखदास जी महाराज से परिचय एवं बाँकुड़ा-प्रस्थान	६५
३३.	श्री सेठजी जयदयाल गोयन्दका के चमत्कार	७१
३४.	गोरखपुर आगमन एवं पू.भाईजी हनुमान प्रसादजी पोद्दार से प्रथम भेंट	७३

⌘⌘⌘⌘

महाभाव-दिनमणि श्रीराधाबाबा

प्रथम खण्ड

दूसरा भाग

(सन् १९३६ से १९४० ई. तक)

अनुक्रमणिका

क्रम	विषय सूची	पृष्ठ संख्या
१.	श्रीकृष्ण-दर्शन एवं गोपीभाव	७८
२.	स्वरचित चौपदों में जीवन का रहस्य	९५
३.	हनुमानगढ़ी का निवास काल--(आन्तरिक दशा)	९८
४.	वेणुनाद-श्रवण एवं पोद्दार महाराज के स्वरूप-महत्व का बखान	१०३
५.	भागवती संकेतों की होली	१११
६.	पू. पोद्दार महाराज की महिमा का वर्णन	११६
७.	महिमा की और गंभीर बातें	१२३
८.	श्री गोयन्दकाजी का गोरखपुर आगमन	१३०
९.	चूरू प्रस्थान	१३४
१०.	लेखक का प्रथम परिचय	१३८
११.	लेखक का बाल-हठ	१४१
१२.	गीता-तत्व विवेचनी का कार्य	
	(अ) चौपदे	१४४
	(आ) चौपदों का भावार्थ	१४६
	(ई) अन्तर्हितभाव	१४७
१३.	अप्राकृत मन	
	(अ) श्री द्वारकादासजी की कथा	१५२
	(आ) पू० गुरुदेव के अप्राकृत मन का लेखक द्वारा स्वयं अनुभव	१५४

अनुक्रमणिका

क्रम	विषय सूची	पृष्ठ संख्या
१४.	अन्तर्दशा का चित्र	१५५
१५.	गीताकार्य एवं रस-भावना जन्य विक्षेप	१५७
१६.	गीताप्रेस के कमरे में विलक्षण दर्शन	१६२
१७.	भगवन्नाम-जप का प्रारंभ	१६५
१८.	तीन पदों की लीलाओं का साक्षात्कार	१६७
१९.	"ग्वालिनि प्रकट्यौ पूरण नेह" पद की लीला	१७१
२०.	पद-व्याख्या में पू० गुरुदेव का भाव-जीवन	१८१
२१.	'कबकी मह्यौ लियें सिर डोलै',(अनुभूति)	१८४
२२.	अटपटे प्रश्नों का साधन-रहस्य	१८९
२३.	उपरोक्त पद-व्याख्या में पू० गुरुदेव की जीवन-कथा का निहित रहस्य	१९७
२४.	"नाहिन रह्यौ हिय माँहि ठौर"पद की व्याख्या	१९९
२५.	गठिया और पेचिश का भयंकर प्रकोप	२०६
२६.	सत्संग प्रवचन से विरति	२११
२७.	गीता के 'य इमं परमं गुह्यं' श्लोक का नवीन अर्थ	२१४
२८.	पुनः भगवत्प्राकट्य और आदेश	२१६
२९.	पू० पोद्दार महाराज के जीवन-व्यापी संग का व्रत एवं जन्मदात्री माँ से अन्तिम मिलन	२२०
३०.	पू० गुरुदेव के पिताश्री	२२९
३१.	प्रवचन का त्याग एवं अखण्ड मौनव्रत	२३४
३२.	सेठजी का पुनः साथ रखने का हठ	२३७

अनुक्रमणिका

क्रम	विषय सूची	पृष्ठ संख्या
३३.	जीवनव्यापी संग में बाधायें एवं सालासर से चिन्मय पुष्प की प्राप्ति	२३९
३४.	शीतसहन की स्पर्धा	२४३
३५.	दौड़ लगानी पड़ी	२४५
३६.	चूरू में एक पंजाबी सन्त	२४८
३७.	गुरु-शिष्य का अभूतपूर्व वात्सल्य	२५२

⌘⌘⌘⌘

महाभाव दिनमणि श्रीराधाबाबा

द्वितीय खण्ड

तीसरा भाग

(सन् १९४० से १९४३ ई. तक)

अनुक्रमणिका

क्रम	विषय सूची	पृष्ठ संख्या
१	व्रजभाव की गम्भीर साधना का प्रारंभ	२५८
२	व्रजभाव की पाँच सौ शब्दावली	२५९
३.	गुरु प्राप्ति की चिन्ता	२७८
४.	विलक्षण दिव्य स्वप्न	२८४
५.	गुरुदीक्षा	२८६
६.	अगणित अनुभूतियों का प्रकाश	२८९
७.	शास्त्रीय आधार	३००
८.	भावजगत -- अहीरनी रसमयी	३०८
९.	मुझे भूत लग गया था और अब तो भूतनी भी आ गयी है	३१४
१०.	आवनी लीला	३१८
११.	वे कैसे रसमय दिन थे	३२७
१२.	दोनों दोनों से बढकर	३३०
१३.	'देखरी देख अनिमेष या वेष कौं'	३३२
१४.	राधाष्टमी उत्सव	३४०
१५.	भगवती श्रीराधारानी का दर्शन,मिलन एवं नित्य संग	३५०
१६.	मजुलीला भाव (वनमाला गुम्फन लीला)	३९३

अनुक्रमणिका

क्रम	विषय सूची	पृष्ठ संख्या
३३.	जीवनव्यापी संग में बाधायें एवं सालासर से चिन्मय पुष्प की प्राप्ति	२३९
३४.	शीतसहन की स्पर्धा	२४३
३५.	दौड़ लगानी पड़ी	२४५
३६.	चूरू में एक पंजाबी सन्त	२४८
३७.	गुरु-शिष्य का अभूतपूर्व वात्सल्य	२५२

⌘⌘⌘⌘

महाभाव दिनमणि श्रीराधाबाबा

द्वितीय खण्ड

चतुर्थ भाग

अनुक्रमणिका

क्रमांक.	विषयसूची	पृष्ठ संख्या
१.	मंजुलीला भाव : "राधा राधा" नामोच्चारण के पीछे की लीला की अनुभूति	४९५
२.	मंजुलीला भाव : मालिन, नापित, गृहरजक एवं हड्डिप कन्याओं की गाथाएँ	
	(अ) मंजिष्ठा की कथा	५०५
	(आ) रंगरागा की कथा	५११
	(इ) भाग्यवती एवं पुण्यपुंजा की कथा	५११
	(ई) माणिकी की कथा	५१७
	(उ) प्रेमवती एवं नर्मदा की कथा	५२३
	(ऊ) नलिनी की कथा	५३५
	(ए) सुगन्धा की कथा	५४४
३.	सारिका प्रसंग	
४.	सारिका प्रसंग : प्रथम लीला	
	(अ) सारिका का प्रादुर्भाव	५५९
	(आ) सखी चन्द्रावली के कुञ्ज में	५६५
	(इ) प्रिया राधा की स्मृति में तल्लीनता एवं विरह क्रन्दन	५६९
	(ई) चित्रपट दर्शन से विरह शान्ति	५७२
	(उ) आश्वासन दान	५७३

महाभाव दिनमणि श्रीराधाबाबा

द्वितीय खण्ड

तीसरा भाग

(सन् १९४० से १९४३ ई. तक)

अनुक्रमणिका

क्रम	विषय सूची	पृष्ठ संख्या
१	व्रजभाव की गम्भीर साधना का प्रारंभ	२५८
२	ब्रजभाव की पाँच सौ शब्दावली	२५९
३.	गुरु प्राप्ति की चिन्ता	२७८
४.	विलक्षण दिव्य स्वप्न	२८४
५.	गुरुदीक्षा	२८६
६.	अगणित अनुभूतियों का प्रकाश	२८९
७.	शास्त्रीय आधार	३००
८.	भावजगत -- अहीरनी रसमयी	३०८
९.	मुझे भूत लग गया था और अब तो भूतनी भी आ गयी है	३१४
१०.	आवनी लीला	३१८
११.	वे कैसे रसमय दिन थे	३२७
१२.	दोनों दोनों से बढकर	३३०
१३.	'देखरी देख अनिमेष या वेष कौं'	३३२
१४.	राधाष्टमी उत्सव	३४०
१५.	भगवती श्रीराधारानी का दर्शन,मिलन एवं नित्य संग	३५०
१६.	मजुलीला भाव (वनमाला गुम्फन लीला)	३९३

अनुक्रमणिका

क्रमांक	विषय सूची	पृष्ठ संख्या
१७.	मंजुलीला भाव - अष्टयाम लीला	४०१
१८.	वृन्दावन वर्णन	४०२
१९.	निद्रा भाव	४०३
२०.	निभृत निकुञ्ज में प्रिया प्रियतम	४०५
२१.	शुक सारी संवाद	४०९
२२.	मंगलगान	४१५
२३.	वीणा-वादन एवं जागरण	४२०
२४.	यमुना संतरण	४२८
२५.	वृषभानुभवन गमन, शयन एवं स्नान	४३१
२६.	श्रृंगार एवं नन्दभवन गमन	४४०
२७.	नन्दभवन में प्रवेश	४४७
२८.	पाक रचना, भोजन, एवं वृषभानुभवन लौटना	४४९
२९.	वंशीध्वनि एवं वनगमन	४५९
३०.	श्रीकृष्ण का राधाकुण्ड आगमन	४६७
३१.	अवशिष्ट अष्टयाम लीला	४७१
३२.	मंजुलीला भाव में वंशी द्वारा आवाहन एवं श्रृंगार	४७८
३३.	मंजुलीला भाव में - प्रिया द्वारा श्रृंगार	४८६

⌘⌘⌘⌘

महाभाव दिनमणि श्रीराधाबाबा

द्वितीय खण्ड

चतुर्थ भाग

अनुक्रमणिका

क्रमांक.	विषयसूची	पृष्ठ संख्या
१.	मंजुलीला भाव : "राधा राधा" नामोच्चारण के पीछे की लीला की अनुभूति	४९५
२.	मंजुलीला भाव : मालिन, नापित, गृहरजक एवं हड्डिप कन्याओं की गाथाएँ	
	(अ) मंजिष्ठा की कथा	५०५
	(आ) रंगरागा की कथा	५११
	(इ) भाग्यवती एवं पुण्यपुंजा की कथा	५११
	(ई) माणिकी की कथा	५१७
	(उ) प्रेमवती एवं नर्मदा की कथा	५२३
	(ऊ) नलिनी की कथा	५३५
	(ए) सुगन्धा की कथा	५४४
३.	सारिका प्रसंग	
४.	सारिका प्रसंग : प्रथम लीला	
	(अ) सारिका का प्रादुर्भाव	५५९
	(आ) सखी चन्द्रावली के कुञ्ज में	५६५
	(इ) प्रिया राधा की स्मृति में तल्लीनता एवं विरह क्रन्दन	५६९
	(ई) चित्रपट दर्शन से विरह शान्ति	५७२
	(उ) आश्वासन दान	५७३

अनुक्रमणिका

क्रमांक	विषय सूची	पृष्ठ संख्या
	(ऊ) रानी की विरह-दशा एवं शैय्या दासी होकर रहने का संकल्प	५७६
	(ए) रानी का चन्द्रावली, शैय्या एवं प्रियतम से मिलाप	५८२
५.	**सारिका प्रसंग : दूसरी लीला**	
	(अ) नन्दभवन दर्शन	५८५
	(आ) गोदोहन एवं यश-गायन	५९१
	(इ) निभृत निकुंज : लीला दर्शन	५९४
६.	**सारिका प्रसंग : तीसरी लीला**	
	(अ) रूप दर्शन	५९९
	(आ) यमुना दर्शन एवं स्तुति	६००
	(इ) रूप-शील गर्विता गोपी	६०३
७.	**सारिका प्रसंग : चौथी लीला**	
	(अ) लीला लोक : नाव लीला के दर्शन	६०७
	(आ) वेणुनाद एवं नृत्य	६०९
	(इ) श्रान्ति एवं शयन	६१२
	(ई) विहार : तत्व रहस्य	६१४
	(उ) रानी के स्वप्नदेश में सारिका	६१५
८.	**सारिका प्रसंग : पाँचवीं लीला**	
	(अ) गहुर वन वर्णन	६१७
	(आ) व्रजजगत का तत्व रहस्य	६१९
	(इ) प्रियतम एवं रानी के स्नेह की जय	६२०
	(ई) गोपराज के ग्राम में	६२२
	(उ) गोपी-हृदय में प्रेम दीप	६२२
	(ऊ) परस्पर रस चर्चा	६२४
	(ए) प्रियतम से मिलन	६२९

अनुक्रमणिका

क्रमांक	विषयसूची	पृष्ठ संख्या
९.	**सारिका प्रसंग : छठी लीला**	
	(अ) सारिका की प्रेम दशा	६३०
	(आ) गोपी में राधा-भाव संचरण	६३२
	(इ) सारिका की प्रेम दशा	६३४
	(ई) वन में प्रिया-प्रियतम का आगमन	६३६
	(उ) रानी की अलकावलि में विलय	६३८
	(ऊ) होली लीला	६३९
१०.	**तृण भाव**	
	(अ) मैं एक तृण हूँ	६५०
	(आ) मेरा परिचय	६५१
	(इ) विरह एवं प्रतीक्षा	६५५
	(ई) प्रियदर्शन एवं व्रजरज-कृपा	६५६
	(उ) महारस दर्शन	६५८
	(ऊ) अन्तर्धान हो जाना	६६२
	(ए) कृष्ण जन्म लीलानुकृति	६७३
	(ऐ) पूतना लीलानुकृति	६७५
	(ओ) शकटभंजन लीलानुकृति	६७८
	(औ) मल्ल-लीलानुकृति	६७९
	(अं) माखन चोरी लीलानुकृति	६८०
	(अः) दामोदर लीलानुकृति	६८२
	(क) कालिय-निग्रह लीलानुकृति	६९१
	(ख) फूँक से दावानल मुक्ति - लीलानुकृति	७००
	(ग) सर्वत्र लीलाओं की अनुकृति	७०१

⌘⌘⌘⌘

"यह राधाबाबा की जीवनी नहीं,
आध्यात्म शास्त्र का विश्वकोश है।
इसके पढ़ने मात्र से
श्रीकृष्ण-कृपा अवश्य प्राप्त होगी।"

(नाम-प्रचार-विमुख
एक गुप्त रसिक-भगवत्प्राप्त सन्त)

राधा

"मैंने भगवान् श्रीकृष्ण से प्रार्थना की थी, कोई बाबा का इस प्रकार का जीवन चरित्र लिख दे, आज मैं इसे देखकर कृत-संकल्प हो गया हूँ।"

रामस्नेही

(श्री रामस्नेहीजी आत्म प्रचार से दूर रहना चाहते हैं ।
उपरोक्त शब्द उन्होंने गोरखपुर यात्रा में लेखक के सम्मुख व्यक्त किये थे।
लेखक ने उन पर अपना प्रेमाधिकार समझते हुए इन्हें प्रकाशित कर दिया है)

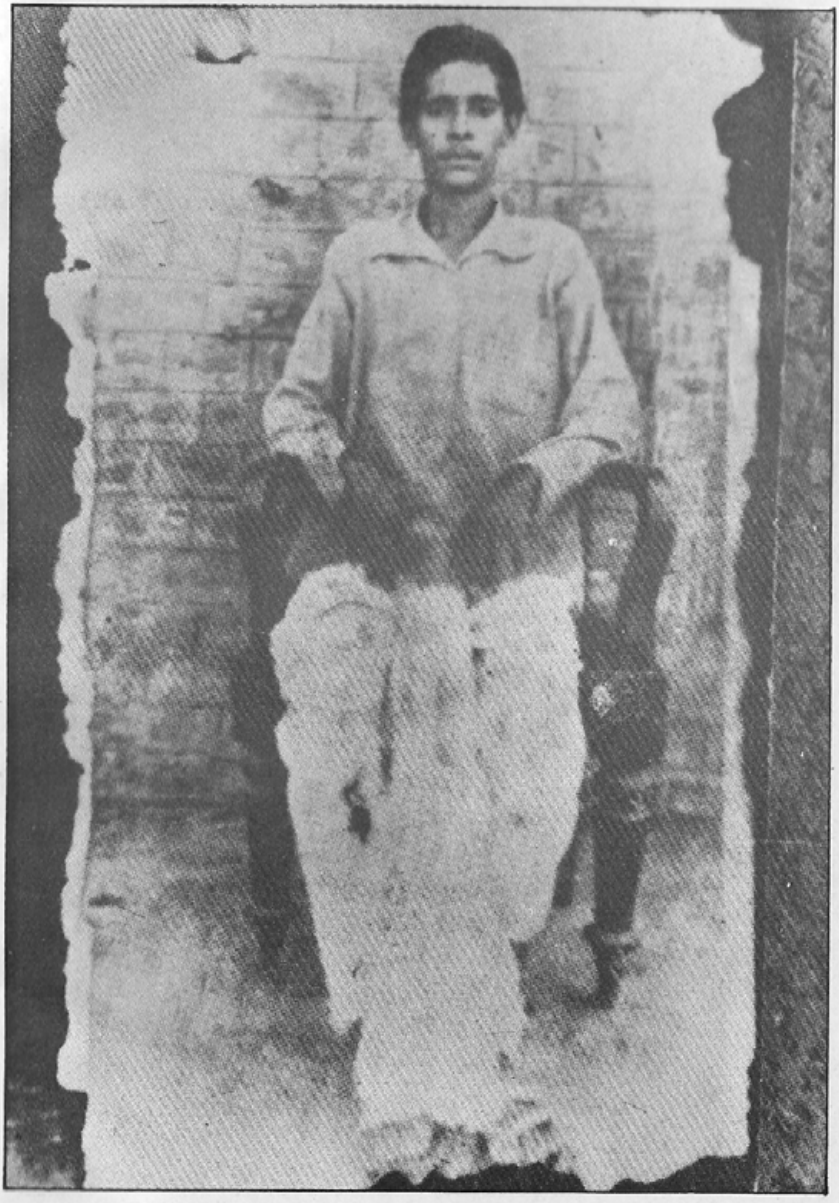

श्री राधा बाबा आश्रम में

आत्मकथ्य

"महाभाव-दिनमणि श्रीराधाबाबा" पुस्तक पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करते सचमुच हर्ष ही नहीं जीवन की चरम कृतकृत्यता का अनुभव हो रहा है।

वि. सं. २०५० में पौष शुक्ला नवमी के दिन पू० गुरुदेव श्रीराधाबाबा का जन्मोत्सव जयपुर के सभी वैष्णवों ने उत्साह पूर्वक मनाया था। परम गौड़ीय वैष्णव श्रीकाशीप्रसादजी के घर से इस उत्सव का प्रारंभ हुआ था, एवं तत्पश्चात् राधावल्लभीय भक्तप्रवर श्रीहरिजी, सरस सम्प्रदाय के वैष्णव श्री नारायणलालजी आदि सभी महानुभावों ने इस उत्सव को परम समुल्लास से सम्पादित किया।

इसी अवसर पर महात्मा श्रीकाशीप्रसादजी ने मुझ से सदाग्रह किया कि मैं पू० गुरुदेव श्री राधाबाबा का जीवन-चरित्र लिपिबद्ध कर दूँ। सच्चे वैष्णव की भावना का आदर करते हुए यह लेखन प्रारंभ हुआ और जो कुछ उर-प्रेरक श्रीकृष्ण ने लिखाया पाठकों के सम्मुख है।

मैं न पढ़ा-लिखा विद्वान हूँ , न ही लेखन का अभ्यास ही है। जीवन तो पू० गुरुदेव के शरणापन्न रहकर पला। पू० गुरुदेव व्यक्तित्व को विकसित करने के पक्षधर नहीं थे। स्वयं वे अति उच्चकोटि के लेखक, कवि, मनीषी, चिन्तक एवं विद्वान थे, परन्तु उन्होंने अपनी योग्यताओं को सदा अप्रकाशित ही रखा। इसी प्रकार उन्होंने अपने शरणागतजनों की योग्यताओं को भी विकसित करने में अरुचि ही प्रकट की। श्री राधाबाबा गुरुड़म वाद पर विश्वास नहीं करते थे। अत: वे ख्यात रूप में किसी के भी गुरु नहीं बने। इसी को लेकर कतिपय मित्रों को मेरे उन्हें पू० गुरुदेव लिखने पर असहमति रही।

मैं बालकपन से ही स्वभाववश दुर्निवार हठी हूँ। अत: सभी मित्रों की सलाह एवं संभव है स्वयं श्रीराधाबाबा की रुचि के विपरीत भी उनकी यह

जीवनी पू० गुरुदेव के नाम से उद्घोषित कर रहा हूँ। उनकी रुचि के विपरीत जब यावज्जीवन ही चलता रहा और वे सहते रहे, तो मेरे इस अन्तिम नटखटपन को भी उन्होंने सह ही लिया है।

पू० गुरुदेव श्रीराधाबाबा से मेरा परिचय वि.स. १९९४ से है, जब वे प्रथम बार श्रीसेठ जयदयालजी गोयनका के साथ चूरू, ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम के वार्षिकोत्सव में आये थे। कोई पूर्व जन्म का दुर्निवार आकर्षण था जो एक परम विरक्त सन्यासी ने मुझसे अपने नैकट्य के सम्बन्ध विकसित कर लिये। उस निरी, शिशु अवस्था में रतनगढ़ में तीन वर्ष पश्चात् उन्होंने मुझे 'राधा' नाम की दीक्षा दी। इस दीक्षा की पद्धति कान फुँकवा गुरु बनकर नहीं, अपितु यह रस-दीक्षा अति विलक्षण बाल-चापल्य के साथ हुई। उन्होंने मेरे साथ प्रतिदिन खेलने का यह नियम बना लिया था कि एक घण्टा, चार से पाँच बजे तक वे मुझे 'राधा' 'राधा' कहकर पीटा करेंगे और मैं उन्हें पीटा करूँगा। यह पीटने का नियम पद-गायन सुनाने में परिणत हो गया और तब मैं उन्हें प्रतिदिन एक घण्टा दुपहरी में तीन बजे से चार बजे तक ब्रजभाव के पद गा-गाकर सुनाया करता था।

वि. स. २००६ में उन्होंने मुझे मंत्र दीक्षा दी और अष्ट दशाक्षर मंत्र-दान, इस प्रतिश्रुति के साथ दिया कि यदि एक माला भी प्रतिदिन जपता रहा तो मृत्यु के समय मुझे अवश्य श्रीकृष्ण-दर्शन हो जायेंगे। इस मंत्र-दान के साथ उन्होंने मुझे अपनी तुलसी माला प्रदान की। उन्होंने लीला-जगत में मेरा स्वरूप किसी महाभागा मंजरी के रूप में स्थापित किया और उस मंजरी की सेवा निर्धारित करके मुझे चौबीसों घण्टे प्रति तीन मिनट में वह सेवा करने का आदेश दिया।

उन्होंने मुझे अष्टयाम लीला लिखाई और अपनी अनुभूत सैकड़ों लीलायें बोल-बोल कर सुनायीं मैंने सन्यास भी उन्हें ही मानसिक रूप में गुरु मानते हुए भगवान् दक्षिणामूर्ति के साक्ष्य में लिया।

सन्यास लेने के तुरन्त पश्चात् वि.स. २०३१ के हरिद्वार के अर्ध कुम्भ में ज्योतिष्पीठाधीश्वर शंकराचार्य श्रीशान्तानन्दजी ने मुझसे मेरा योग पट्ट पूछा। मैंने उनसे जब अपने विविक्त सन्यास का उल्लेख किया तो उन्होंने हँस कर कहा - "आप द्राविड़ दाक्षिणात्य भट्ट-वंशीय ब्राह्मण हैं, आप मुझसे विधिवत् सन्यास दीक्षा ले लें। आप भले ही सद्गुरुरूप में राधाबाबा को गुरु मानें।" परन्तु मुझे तो एकछत्र उनके परमाश्रय के सिवाय किसी से कोई दूर

का संबंध भी रुचिकर नहीं था। मैंने पू० गुरुदेव से रोकर अपनी स्थिति निवेदन की। "बाबा ! आप मुझे अपना योगपट्ट तो दीजिये, अन्यथा सन्यासी समाज मुझे नाजायज संतान मान रहा है। पूर्ण विरक्त दुर्धर्ष तेजस्वी सच्चे सन्यासी गुरु के होते मैं अनाथवत् अपने पिता का गोत्र भी उच्चारण नहीं कर सकूँ ऐसा मेरा क्या अपराध है ! आपने मुझे अपनी आध्यात्मिक सम्पति से वंचित अनधिकारी समझ कर दिया, परन्तु क्या अपने पिता का गोत्र भी मुझे नहीं मिलेगा ? इस पर पू० गुरुदेव ने अति वात्सल्यपूर्वक मुझे कहा -"मधुसूदनानन्द सरस्वती तेरे गुरु हैं और सरस्वती नामा तू सन्यासी है।" उन्होंने मेरा सन्यासी नाम भी उच्चारित किया, जिसे उल्लिखित नहीं कर रहा हूँ।

अब भी यदि मैं उन्हें पू० गुरुदेव नहीं लिखूँ तो उनके मेरे सम्बन्धों के साथ न्याय तो कदापि नहीं होगा। कौन सा सम्बोधन है जो मेरे एवं उनके अति विषद एंवं व्यापक सम्बन्ध को समेट सके। वे सन्यासी विरक्त पुरुष थे, अत: उन्हें अपनी माँ कह नहीं सकता। वे इतने असंग एवं विरक्त थे कि जैसे पोद्दार महाराज को अनेक मित्रों ने 'बाबूजी' मान लिया, उन्हें मैं अपना पिता भी सम्बोधित नहीं कर सकता। वे मुझसे इतने उच्च एवं महान् थे कि उन्हें अपने मित्रों की श्रेणी में रखूँ - संभव ही नहीं है। मात्र 'गुरु' शब्द ही इतना व्यापक है, जिसमें प्रामाणिकता से माता का समग्र वात्सल्य भरा है, पिता का संरक्षण भी इस शब्द में निहित है, एवं मित्र का हितभाव भी इसमें समाहित हो जाता है। उन्होंने मुझे हिन्दी सिखाई, संगीत सिखाया मेरी सम्पूर्ण नटखटताओं को सहा, वे मेरे गुरु नहीं हैं तो क्या हैं ? मात्र 'राधा बाबा' कहकर उन्हें सम्बोधित करूँ - मेरी सम्पूर्ण आत्मा धिक्कार उठती है। "निर्भय सन्यासी होकर क्यों डर रहा है ? किस लिये यह संगोपन है ? छाती ठोककर क्यों नही अपने सच्चे सम्बन्ध को उजागर करता ?" मेरी आत्मा की पुकार पर सब स्वजनों को अनसुना करके मैं इस पुस्तक में उन्हें निर्भय 'गुरु' सम्बोधित कर रहा हूँ।

इस जीवनी में मेरा अपना कुछ भी नहीं है। उनके सन्यास पूर्व की बाल्य जीवन की बातें उनके श्रीमुख से सभी ने अनेकों बार सुनी हैं। प्रियवर श्री राधेश्यामजी बंका ने एक उत्कृष्ट रिपोर्टर की तरह अपने 'पत्र-पुष्प' नामक ग्रन्थों में उन्हें इतस्तत: असम्बद्ध प्रकाशित कर ही दिया है । मैने उन्हें मात्र सुसंबद्ध क्रम रूप में ही किया है। वैष्णवों की मान्यता है कि सन्त

की जीवनी भी चिन्मय ही होती है, अत: उसमें उनका यथा-संभव समग्र आना चाहिये, अत: यथाश्रुत यथास्मृत सभी घटनायें दी गयी हैं। और इन्हीं सब कारणों से कलेवर विस्तृत होता गया है।

जहाँ तक लीलापक्ष का सम्बन्ध है, सभी लीलाएँ पू० गुरुदेव द्वारा वर्णित हैं, ये लीलाएँ वि. सं. २००८-२००९ में उनसे सुनी थीं। तबसे प्रतिदिवस उन्हें स्मरण कर-करके सँजो कर रखी हैं। ऐसी पचासों और भी लीलायें हैं, जिन्हें मञ्जुश्यामा-भाव नामक ग्रन्थ में देने का मन है। इन लीलाओं को भाषा के वस्त्रालंकार पहनाते समय भी यही भावना रही कि यथासंभव पू० गुरुदेव की भाषा में ही इनका विस्तार हो। अत: "श्रीकृष्ण-लीला चिन्तन" "चलोरी आज ब्रजराज मुख निरखिये" आदि ग्रन्थों के वाक्य-विन्यास ही इन लीलाओं में पाठकों को विजड़ित मिलेंगे। विशुद्ध नीयत यही है कि पू० गुरुदेव की कथित लीलायें यथासंभव उन की चिन्मयी रसमय-शब्दावली में पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत हो। इसी कारण एक ही प्रकार वाक्य विन्यासों का पुनरावर्तन सुपठित विद्वानों को भाषा-दोष के रूप में दृष्टिगोचर हो सकता है। परन्तु मेरी नीयत देखकर सुधिजन मुझे क्षमा करेंगे।

अनेक स्थलों में लीला का विस्तार करने में श्रीपोद्दार महाराज के पदों में वर्णित लीलाओं के अंश भी गुम्फित हैं । ये अंश अ. सौ. बेटी राधा के द्वारा पू० गुरुदेव के संरक्षण में लिखी 'रस तरंगिणी' नामक पुस्तक से लिये गये हैं इसके पीछे भी यही भाव रहा है कि अपना व्यक्तित्व एवं अपनी कल्पना कहीं भी प्रकाश में नहीं आये। कहीं भी कोई भी अंश अपनी रचना-कौशल न होकर महापुरुषों द्वारा लिखे मंत्र ही इन लीलाओं में वैष्णवों के सम्मुख प्रकाश में आवें। वैष्णवों के सम्मुख यही मेरी दीनोक्ति है कि मेरा अहंकार, लेखन, मेरे विचार इसमें कहीं कुछ भी नहीं है, सब कुछ महापुरुषों एवं उनके कृपा पात्रों का प्रसाद है। इतना जागरूक प्रयत्न करने पर भी यह पवित्रतम परम मंगलमय गुरु-चरित्र यदि लेखक की दुर्निवार प्रसुप्त अहंकारमयी वासना से मलिन होगया हो, तो हेतुरहित कृपालु श्रीकृष्ण इसे अपनी पावन दृष्टि डालकर परम कल्याणमय सुन्दरतम सर्वमंगलकारी स्वरूप दे दें, यही प्रार्थना है।

अ. सौ. पू. सावित्री बाई फोगला (पू० पोद्दार महाराज की भगवत्प्राप्ति के पश्चात् की संतान) ने इस ग्रन्थ को 'कनुप्रिया' के रूप में आशीर्वाद दिया, इसके लिये मैं उनका परम आभारी हूँ। यह एक विरल संयोग

ही है कि श्रीकेलि मंजरी रूपा काशीप्रसादजी की प्रेरणा इसे लिखाने में हेतु रही और श्रीकनुप्रिया इसको आशीर्वाद दान दे गयीं।

श्रीरामस्नेही जी जो पू० गुरुदेव की सेवा एवं परिचर्या में रहे एवं जल-सेवा करते-करते जिनकी अँगुलियाँ तक गल जाया करती थीं - उन्होंने अपने अनमोल साधनरत जीवन में से कुछ क्षण देकर इसे पढ़ा और अति स्नेह विह्वल ये उद्‌गार प्रकट किये कि "मैने प्रभु से प्रार्थना की थी कि पू० राधा बाबा की जीवनी इस प्रकार से कोई लिख पावे, आज इसे देखकर मैं सफल संकल्प हो गया।" मैं उन परम सेवादर्श त्यागमूर्त्ति श्री रामस्नेही महात्मा का परम आभारी हूँ।

भाई श्री राधेश्यामजी भगत ने भी अपनी कृपा दृष्टि इस ग्रन्थ-पर डाली और इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि अति कृपाकर पू० राधाबाबा की समाधि मूर्त्ति के चरणों में रख दी, इसे पुष्पों से सुपूजित किया, मैं हृदय से उनका कृतज्ञ हूँ।

अभी तो इस विस्तृत ग्रन्थ का प्रथम खण्ड ही पाठकों के सम्मुख आ रहा है। दूसरे खण्ड का अर्धांश "पू० गुरुदेव की मातृसाधना" प्राय: सम्पूर्ण है और कम्प्यूटर प्रिंटिंग के लिये दे दिया गया है। शेष अर्धांश योग पक्ष है जिसमें उन अनेकों परलोकवासी आत्माओं का वर्णन है जिन्हें पू० गुरुदेव एवं श्री पोद्दार महाराज की कृपा से उच्च लोकों की प्राप्ति हुई है। परलोक में आत्माओं को किन-किन कर्मराशियों से बहुत बाधायें आती हैं, इनके अति प्रामाणिक प्रसंग इस दूसरे खण्ड के अर्धांश में दिये जाने हैं। किन्हीं सज्जनों के पास यदि ऐसे और अनुभव हों तो लेखक को भेजने की अवश्य कृपा करें।

तीसरे खण्ड में पू० गुरुदेव द्वारा श्री तारादत्तजी मिश्र, श्री देवदत्तजी मिश्रादि अपने अग्रज भ्राताओं को लिखे पत्रों का संकलन है। यह पत्राचार वि. सं. १९९४ से वि. सं. १९९७ तक का है, कुछ पत्र लेखक को भी पू० गुरुदेव ने सम्बोधित किये हैं, अथवा लेखक के पूर्वाश्रम के पिता को सम्बोधित कर लिखवाये गये हैं, उन सभी को देने का विचार है। इसके अतिरिक्त पू० गुरुदेव के उपदेश भी जो लेखक के पास संकलित हैं, उन सभी को इस तीसरे खण्ड में प्रकाशित कर देने की योजना हे।

चौथे खण्ड में श्री मंजुश्यामा भाव एवं श्री राधामहाभाव पर यथोचित सामग्री देने का पूरा प्रयास है। इस प्रयास में अ. सौ. बाई सावित्री के पास जो भी संकलन है, उसने देने का आश्वासन दिया है।

अभी हमारी वर्तमान पीढ़ी तो पू० गुरुदेव के साथ अपना कुछ जीवन बिता चुकी है, उन्हें यह प्रतीत हो सकता है कि स्वामीजी इतनी विस्तृत जीवनी प्रकाशित कर पिष्ट-पेषण ही कर रहे हैं। परन्तु हमारे सम्मुख वास्तव में जीवनी लिखते समय लक्ष्य भविष्य के वे लोग होने चाहियें जो मात्र इस पुस्तक से ही पू० गुरुदेव श्री राधाबाबा का परिचय प्राप्त कर सकेंगे। भविष्य में अब तो युगों-युगों तक ऐसे महासिद्ध सन्त का परिचय मात्र पुस्तकें ही तो करा पावेंगीं। अत: यदि इस महा विभूति को, उसके व्यक्तित्व और उपलब्धियों को शब्द परिचय दिया जा सका तो भविष्य का युग निश्चय ही इस प्रयास से कृतकृत्य होगा।

मैं तो पुन: पुन: महारसनिधि राधाबाबा के प्राणवल्लभ भगवान श्रीकृष्ण के नयनों की ओर ही ताक रहा हूँ और अनन्त कृतज्ञता व्यक्त करते हुए उन्हीं से अति विनीत प्रार्थना कर रहा हूँ - क्योंकि उनकी कृपा कोर पाये बिना मुझ जैसा परम अधम तुच्छ देह-लोलुप जीव इस महारस ग्रन्थ को लिख पावे, यह असंभव, असंभव, सर्वथा असंभव है। अन्त में यही निवेदन है

मूकं करोति वाचालं पंगुल्लंघयते गिरिं
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्द माधवम्।

जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै, अँधरे कौं सब कछु दरसाई
बहरो सुनै, मूक पुनि बोलै, रंक चलै सिर छत्र धराई।।

पू० राधाबाबा और उनके प्राणवल्लभ की जय हो।

साधु कृष्णप्रेम

(समर्पण के दो फूल)

प्रियतम !

•असीम अनुग्रह है तेरा जो अपनी प्राण-प्रिया का परोक्ष दर्शन तो कराया। मैं तो कहीं कुछ भी लायक नहीं था। कूड़े-करकट को घूरे से उठाकर चन्दन-पंक-कुण्ड में डाल देना भी तेरा ही कृपा विधान रहा। तेरी प्रिया को अपरोक्ष कर सकूँ - अपने वश का तो कुछ भी नहीं है, और तू तो सर्वभवन समर्थ है। जिसने कूड़े-करकट होने का दुर्भाग्य दान किया है, वह सौभाग्य के सुमेरु शिखर पर भी आसीन कर सकता है। अभी तो यही क्या कम सौभाग्य है कि कूड़े-कचरे के नेत्रों में तेरी प्रिया का परोक्ष दर्शन अनवरत अधिकांश काल हो रहा है।

यह सत्य है, साक्षात् सरस्वती भी प्राणप्रण से चेष्टा करे तो तेरी प्रिया का सही चित्र, यथार्थ चित्रण नहीं कर सकती। जब सरस्वती ही असमर्थ है तो मुझ पर तुम खीझ ही नहीं सकते।

पुनः इतनी ही प्रार्थना है कि मेरे द्वारा बिगाड़े को अपनी प्रीति सुधामयी दृष्टि डालकर अपने ही कर कमलों से सुधार लेना।

तेरी वस्तु तुझे ही समर्पित है।

मोहन तेरी प्राणप्रिया को वरणौं कहा सिँगार
जो तुम मेरो आदि अंत लौं मानो यह उपकार

तुम्हारा अपना
कृष्णप्रेम

प्रकाशकीय वक्तव्य

श्रीराधामाधव प्रकाशन की यह तीसरी पुस्तक -- "महाभाव दिनमणि श्री राधाबाबा" वैष्णवों को सौंपते हुए मैं परम हर्ष का अनुभव कर रहा हूँ। हमारी प्रथम पुस्तक "श्रीराधामाधव रस सुधा" सन् १९६७ ई. में प्रकाशित हुई थी। यह पुस्तक इतनी गरिमामयी थी कि सुना है -- 'माँ आनन्दमयी' इस पुस्तक को अपनी पूजा की पुस्तकों में रखतीं थीं। इसमें पू० श्रीहनुमान प्रसादजी पोद्दार द्वारा रचित षोड़शगीतों का उन्हीं के द्वारा किया हिन्दी में अनुवाद और इन्हीं गीतों पर उनकी ही प्रगल्भ दार्शनिक भूमिका थी। साथ ही पू० राधाबाबा द्वारा लिखित 'जगज्जननी श्री राधा' नामक परम सरस लेख भी था।

हमारी दूसरी पुस्तक 'रसाद्वैत मञ्जरी' श्रीभागीरथप्रसाद मरदा ने चूरू से प्रकाशित करायी थी। यह पुस्तक श्रीमरदाजी ने जब परमश्रद्धेय करपात्रीजी महाराज को समर्पित की तो उनके द्वारा इसकी अत्यन्त प्रशंसा की गयी। ये दोनों पुस्तकें आज अलभ्य हैं।

'रसाद्वैत मंजरी' भी षोड़श गीतों के प्रथम आठ पदों की दार्शनिक अद्वैतपरक टीका थी, जो पू० स्वामी कृष्णप्रेमजी ने पू० गुरुदेव श्री राधाबाबा के सान्निध्य में रहकर लिखी थी। इस पुस्तक को पू० श्रीराधाबाबा ने अक्षरशः अनुमोदित की थी।

यह हमारा परम सौभाग्य है कि हमारा यह तीसरा प्रयास भी वैष्णव जगत द्वारा बहुत ही महत्व को प्राप्त कर रहा है।

पू० श्री राधाबाबा की इस जीवनी के सम्बन्ध में एक परम रसिक सन्त की उक्ति है कि यह आध्यात्मशास्त्र का विश्वकोश है।
मेरी दृष्टि में महापुरुषों के अनेक जीवन प्रसंग आये हैं, परन्तु किसी भी लेखक द्वारा सन्त का अन्तर्भाव-जीवन चित्रित हुआ देखने में नहीं आया। सभी ग्रन्थों में सन्तों की बाह्य साधना एवं लोक-व्यवहार की बातें ही देखने को मिलती हैं। पू० गुरुदेव श्री राधाबाबा के अन्तर्भाव-जीवन का इतना विस्तृत प्रकाश करके स्वामी कृष्णप्रेमजी ने वैष्णव जगत् को एक अनमोल सिद्ध वस्तु

दी है। इन श्रुतिरूप बीज-मंत्र-लीलाओं को मात्र पढ़कर ही एक साधक साध्य वस्तु को प्राप्त कर सकता है।

ये लीलाएँ वेद-ऋचाओं से भी अधिक गरिमामयी हैं, क्योंकि ये परम रसमयी हैं। श्रीमद्भागवत दशम स्कंध के प्रारंभ में ही एक अति अद्भुत श्लोक आया है-

निवृत्ततर्षैरुपगीयमानात् भवौषधात् श्रोत्रमनोभिरामात्।
क उत्तमश्लोक गुणानुवादात् पुमान् विरज्येत बिना पशुघ्नात्।।

श्री शुकदेवजी महाराज कहते हैं - "भगवान् उत्तमश्लोक श्रीकृष्ण के गुणानुवाद इतने पवित्र एवं रसमय हैं कि नारद, व्यासादि विगत-तृष्णा ऋषि उनका गान अनवरत करते रहते हैं। ये भगवान् के परम मंगलकारी चरित्र मन को, कानों को परम अभिराम, रसमय लगने के कारण विषयी जीवों को भी आकर्षित कर लेते हैं। ये संसार के त्रिविध रोग की अमोघ ओषधि हैं। इन परम पवित्र लीला चरित्रों के श्रवण से तो मात्र आत्मघाती जीव ही भले वंचित रहे।"

ठीक इसी प्रकार मेरे इस कथन में कहीं भी अतिशयोक्ति नहीं है कि श्रीराधाबाबा जैसे महासिद्ध सन्त का यह परम रसमय महामंगलमय जीवन चरित्र भी जो आध्यात्मिक अनमोल रत्नों से भरा है,जिसमें कहीं किंचिन्मात्र भी खारापन नहीं, सभी सिद्धों, साधकों और साहित्य रुचि रखने वाले विषयी प्राणियों को भी समान रूप से आकर्षित करेगा। यह निश्चय ही विश्व के लिये परम मंगलकारी है।

पू० गुरुदेव श्री राधाबाबा के पवित्रतम गोपी भाव-जीवन की इसमें ऐसी सरस कथायें हैं कि यदि एक बार भी कोई पढ़ने में लग जायगा तो इन्हें छोड़ने का मन ही नहीं करेगा।

पू० श्रीस्वामीजी ने इसकी भाषा भी पू० गुरुदेव श्रीराधाबाबा के स्वरचित श्रीकृष्ण-लीला-चिन्तन आदि ग्रन्थों से भ्रमर की तरह संचयित की है, अतः भाषा भी पू० गुरुदेव की परम चिन्मयी ही है। लीलाएँ पू० गुरुदेव द्वारा अनुभूत अप्राकृत, भाषा सच्चिन्मयी, एवं भाव भी पू० गुरुदेव अथवा श्रीपोद्दार महाराज के होने से यह ग्रन्थ सर्वओर से रसमय है। इसमें गुठली, छिलका कुछ भी त्याज्य वस्तु नहीं है।

श्री स्वामीजी ने इस अपनी रुग्ण, विषम-स्वास्थ्य की परिस्थितियों में कितना श्रम करके यह सब संकलित किया है, उनका उत्साह और प्रयास सचमुच ही स्तुत्य है। सचमुच ही उन्होंने अपनी यह श्रद्धाञ्जलि अपने पू० गुरुदेव को देकर अपना जीवन परम सफल किया है।
पाठक इस अनमोल निधि का आकलन स्वयं पढ़कर ही करेंगे।

विनीत

प्रद्युम्न गोस्वामी
श्रीराधामाधव प्रकाशन
षोड़श गीत मन्दिर,अनाथालय के पीछे,
बीकानेर-३३४००१

कुल परिचय

जैसे प्रेम का प्रादुर्भाव होता ही है, व्रजभूमि में और इसीलिये भगवान् श्रीकृष्ण को अपने प्राकट्यस्थल का चयन भी इस विशुद्ध प्रेम की पृष्ठभूमि व्रजमंडल में ही करना पड़ता है, वैसे ही सच्चे संत भी ऐसे ही जन्मस्थल का चयन करते हैं जहाँ विशुद्धसत्त्व की प्रधानता हो।

शास्त्र कहते हैं, भगवान् जिस देश में जन्म लेते हैं, उस देश में उनकी तीन पीढ़ी पूर्व से ही संधिनीशक्ति का प्रकाश हो जाता है। इस चिन्मय सन्धिनीशक्ति का पवित्रतम प्रकाश अवतार के स्वधामगमन तक बना रहता है एवं अवतार के स्वधाम-गमन करने पर यह चिन्मय सन्धिनीशक्ति का प्रकाश भी अवतार के साथ ही उनके स्वधाम में चला जाता है ।

परम पू० गुरुदेव श्रीराधाबाबा पू० भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार की महिमा में स्वयं अपनी वाणी में कहते हैं -

पिंजर काला प्रतीक यह है व्रजधरा अरण्य तथा, प्रियतम !
सब मातृपितृकुल के परिकर, वे श्वसुरालय के भी प्रियतम !
गोवंश, वसन, उपकरण, सभी जन के तनधारण के प्रियतम !
सन्धिनीशक्ति की परिणति ही जो हैं, इन सबका ही, प्रियतम ।।

यह श्रीपोद्दारमहाराज का कालापिंजर शरीर ब्रजभूमि एवं अरण्य (वृंदावन) का प्रतीक है तथा उनके मातृ-पितृकुल के तथा श्वसुरालय के भी सारे परिकर, उनके यहाँ पालित गोवंश, उनके वसन-उपकरण, जो उनके तथा उनके जनों के तन-धारण में निमित्त हैं, सभी सन्धिनी शक्ति की ही परिणति हैं ।

ये पंक्तियाँ जो ऊपर अंकित हैं, पू० गुरुदेव ने पू० पोद्दार महाराज को अपने महाभावावेश में कही थीं। श्रीपोद्दार महाराज ने इन्हें अपने स्वयं के हस्ताक्षरों में अंकित कर ली थीं। वे पंक्तियाँ ही यहाँ उद्धृत हैं।

कहने का इतना ही तात्पर्य है कि पूज्यचरण पोद्दार महाराज एवं पू० गुरुदेव जैसे सन्तों का- जिनमें स्वसुख की वासना का सम्पूर्ण त्याग सहज ही होता है, जिनमें भोग तो क्या मोक्षसुख तक के प्रति घोर विरक्ति होती है, जिनमें अपने प्राणवल्लभ नीलसुन्दर से निरन्तर प्रीतिदान की होड़ लगी रहती

है -- सबकुछ सन्धिनीशक्ति का चिन्मय विलास ही होता है । पू० राधाबाबा जैसे अथाह महिमामय प्रेमीसंत को अपनी कोख में धारण करने वाली जननी, बीजस्थापन करने वाले पिता, उनके पितामह, प्रपितामह एवं उनका सब कुल भगवान् की संधिनीशक्ति की ही परिणति होने के कारण कितना कल्याणपुंज, पवित्र, शुद्ध एवं सात्विक था, इसकी थाह मेरे जैसे तुच्छ लेखक की जड़बुद्धि भला कैसे कर पावे। आओ, भक्त सम्राट तुलसीदासजी की वाणी में अपनी वाणी मिलावें एवं कहें -

सो कुल धन्य उमा सुनु जगत पूज्य सुपुनीत ।
श्रीरघुवीर-परायन जेहिं नर उपज विनीत ।।

परम पू० गुरुदेव के पितामह का नाम था श्रीअम्बिकादत्तजी मिश्र। ये संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित थे, साथ ही भगवती दुर्गा के अनन्य भक्त थे। इनके पाँच पुत्र थे । सबसे बड़े पुत्र का नाम श्रीभूपालमिश्र था। इनके सभी पुत्रों को आनुवंशिकी के रूप में अपने पिता से सुख-दुख में सहनशीलता, करुणापूर्ण हृदय, सबका अकारण हित करने की प्रवृत्ति, शान्त स्वभाव, साधु महात्माओं के प्रति अगाध श्रद्धाभाव, अपने इष्ट में अनन्य भावयुक्त सुदृढ भक्ति,ब्राह्मणोचित तितिक्षा, तप-परायणता, कर्त्तव्यनिष्ठा, धर्मभीरुता, विद्वत्ता,सत्य के प्रति प्रेम, उज्ज्वल चरित्र आदि अलौकिक गुण प्राप्त हुए थे।

श्रीअम्बिकादत्तजी ने अपने बड़े पुत्र श्रीभूपाल मिश्र को अति लगन से विद्वान् बनाया था, परन्तु उनकी सर्पदंश से असामयिक युवावस्था में ही मृत्यु हो गयी । इससे इनके मन में उत्कट वैराग्य भाव उदय हो गया । ये समझने लगे कि विद्या-पठन-पाठन जब मृत्यु से रक्षा ही नहीं कर सकती, तो वह व्यर्थ है ।

प्राप्ते सन्निहिते काले नहि नहि रक्षति डुंकीकरणे
भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढमते ।

उन्होंने निर्णय कर लिया कि भविष्य में किसी भी बच्चे को पठन-पाठन के श्रम में नहीं डालेंगे । इधर तो पिता का ऐसा निश्चय था और उधर श्रीमहीपालजी मिश्र की विद्यार्जन में आत्यंतिक रुचि थी । जब इन्हें अपने पिता से अपने उद्देश्य की पूर्ति में कुछ भी प्रोत्साहन नहीं मिला तो एक दिन वे अपने घर से भाग गये ।

वे घर से ऐसे स्थान को चले गये जहाँ पठन-पाठन की समुचित व्यवस्था हो सकी । वहाँ पहुँचकर इन्होंने अपने पिता को अपना पता सूचित कर दिया अध्ययन के प्रति इनकी उत्कट रुचि देखकर पिताजी ने भी इनका विरोध करना उचित नहीं समझा ।

श्रीमहीपालजी मिश्र में गृहस्थ-जीवन स्वीकार करने की सर्वथा रुचि नहीं थी । वे परम सत्यनिष्ठ, सबसे द्वेष-भावरहित, स्वार्थरहित, सबके प्रेमी एवं हेतुरहित दयालु स्वभाव के थे । उनका मन ममता से रहित, अहंकार-शून्य, सुख-दुखों की प्राप्ति में सम एवं क्षमावान् था । वे अपने प्रति अपराध करने वाले को भी अभय देनेवाले थे। वे सदा सन्तुष्ट रहते, मन-इन्द्रियों सहित शरीर को वश में रखते तथा अपने इष्ट के प्रति दृढ आस्था रखते थे ।

उन्हें एक दिवस दिव्य स्वप्न हुआ । स्वप्न में भगवती दुर्गा, उनकी इष्ट देवता उनके सम्मुख प्रत्यक्ष थीं । उन्होंने इन्हें आज्ञा दी कि तेरे कुल में मैं अपने अंश से अवतरित होऊँगी अतः तू गृहस्थ जीवन ग्रहण कर ले । श्रीमहीपालजी मिश्र ने भगवती का आदेश पाकर अपनी इच्छा के सर्वथा प्रतिकूल गृहस्थ जीवन स्वीकार कर लिया ।

श्रीमहीपालजी मिश्र का विवाह पाठक-वंश में परम पुण्यवती सौ० श्रीमती अधिकारिणीदेवी से हुआ । वे जीविका-उपार्जन हेतु गया जिले के मिसिरटोला नामक ग्राम से फखरपुर ग्राम चले आये और यहाँ इन्होंनें राजवंशी कायस्थ जमीदारों का पौरोहित्य स्वीकार कर लिया । उन दिनों सभी राजाओं, जमीदारों और समाज के अन्य वर्गों में भी ब्राह्मणों के प्रति अगाध श्रद्धा थी। यह फखरपुर ग्राम, बिहार के जहानाबाद जिले में सोनभद्र तट के समीप अरवल ग्राम से तीन मील पूर्व की ओर स्थित है ।

श्रीमहीपालमिश्र का जीवन अतित्यागी, निस्पृह एवं चरित्र अतिशीलवान था। वे स्त्री वर्ग में भी अपने अतिशय शीलवश श्रद्धाभाजन थे और उस काल में जब विशेषकर जमींदारों में स्त्रियों पर पर्दा आदि के विकट प्रतिबंध थे, संभ्रांत कुल की कुलवधुओं को भी उन्हें अपना दुख-दर्द निवेदन करने में कोई संकोच नहीं होता था । श्रीपंडितजी का प्रभाव आसपास के दूर-दूर गाँवों तक में वचनसिद्ध ब्राह्मण के रूप में था और जिस दुखी प्राणी को वे आशीर्वाद देते थे, वह फलीभूत हो जाता था ।

श्रीमहीपाल मिश्र के प्रथम पुत्र का नाम था श्रीतपस्वीनाथ मिश्र, दूसरे पुत्र का नाम था श्रीवासुदेव मिश्र, तीसरे पुत्र थे श्रीतारादत्त मिश्र और सबसे छोटे पुत्र थे परम पू० श्रीगुरुदेव श्रीचक्रधर मिश्र । पू० गुरुदेव की दो बड़ी सहोदरा बहनें भी थीं ।

श्रीमहीपालजी मिश्र ऊर्ध्वपुण्ड तिलक लगाते थे, अतः ऐसा अनुमान होता है कि वे रामानुज सम्प्रदाय के अनुयायी थे एवं वहीं से दीक्षित भी थे । श्रीमिश्रजी को सन्तदर्शन एवं सत्संग-सच्चर्चा का अतिशय उत्साह था । अतः इस परिवार में सन्तमहात्माओं का प्रायः जमघट मचा रहता था । ऐसे सद्-गृहस्थ ब्राह्मण परिवार के मध्य अतिगरीब ग्रामीण परिवेश में पू० गुरुदेव श्रीराधाबाबा का जन्म हुआ था ।

वात्सल्यमूर्त्ति जननी

श्रीमहीपालजी मिश्र की पत्नी अ०सौ० अधिकारीणीदेवी विदुषी नहीं थीं। उन्हें अक्षर ज्ञान भी नहीं था। इसके उपरांत भी सत्यनारायण कथा, एकादशी माहात्म्य, रुक्मिणीमंगल, सीतास्वयंवर एवं रामचरितमानस के प्रसंग और श्रीजयदेवकृत गीतगोविन्द आदि ग्रन्थ उन्हें कण्ठस्थ याद थे । वे प्रतिदिवस नियमानुसार गीतगोविन्द का संपूर्ण पाठ किया करती थीं ।

गीतगोविन्द के सम्बन्ध में यह प्रतिश्रुति है कि जो भी भक्त इसका जहाँ भी पाठ करता है भगवान् स्वयं उस पाठ को सुनने उसके पीछे-पीछे वहाँ चले आते हैं । पू० माताजी के गीतगोविन्द के प्रतिदिन के पाठ में उनकी अतिशय श्रद्धा ही हेतु थी । वे न तो शुद्ध उच्चारण ही कर सकती थीं एवं संस्कृत के श्लोकों का अर्थ भी उन्हें ज्ञात नही था ।

पू० माताजी प्रत्येक पूर्णिमा को सत्यनारायण-व्रत अवश्य रखती थीं। अतिशय श्रद्धा से श्रीसत्यनारायण भगवान् का सविधि पूजन करके स्वजनों में प्रसाद-वितरण में उनका उत्साह देखते ही बनता था ।

पू० गुरुदेव के जन्म के समय माताजी को बहुत ही कम प्रसव-कष्ट हुआ था। शेष पाँच पुत्रों एवं पुत्रियों के जन्म के समय माताजी को जितना उग्र कष्ट भोगना पड़ा था वैसा कष्ट इस पुत्र के जन्म के समय न होने से माताजी आश्चर्यचकित थीं और अपने इस पुत्र को अतिमंगलकारी संतान मानती थीं । उनका अपने इस सबसे छोटे पुत्र पर अतिशय स्नेह था । ऐसा लगता है पू० राधाबाबा के जीवन में श्रीकृष्ण की उत्कट भक्ति एवं रसमयी

गोपी भाव की साधना का बीजारोपण पू० माताजी के गीतगोविन्द के नियमित पाठ ने ही कर दिया था।

नामकरण संस्कार एवं बाल जीवन

पू० राधाबाबा का जन्म मेषराशि में हुआ था । जन्म-लग्न के अनुसार इनका नामकरण पंडितों ने लालमणि किया । बालकपन में बच्चों की रुचि स्वभावतः गुड्डे गुड्डियों से खेलने की होती ही है । इनकी माताजी इतनी भक्तिमती थीं कि उन्होंने इन्हें खेलने के लिये एक खण्डित गोपी की प्रतिमा दे रखी थी । निरे-बालकपन में श्रीराधाबाबा इसी खण्डित गोपीमूर्त्ति को सजाया करते थे । वे इसे स्नान कराते एवं घर में जो भी पुराने कपडों की कतरनें मिलतीं उससे ही इस गोपीका श्रृंगार किया करते थे । पू० गुरुदेव का मातृप्रेम भी अतिविलक्षण था । वे नौ वर्ष की किशोरावस्था तक अपनी बुढिया माँ का स्तनपान किया करते थे । तब-तक वे पाठशाला में पढने लगे थे । पाठशाला से लौटते ही उनका पहला कार्य मातृस्तन का पान ही होता था । पूज्या माताजी तबतक इतनी वयोवृद्ध हो चुकी थीं कि उनके स्तन लटक गये थे । उनमें दूध आता ही नहीं था । परन्तु पू० गुरुदेव को इसकी कहाँ चिन्ता थी। वे दूध न आने पर हँसते हुए अपनी माता का स्तन दाँत लगाकर काट लेते थे तब माँ उनको 'हट कोढिया' कह कर गाली देकर अपना स्तन छुड़ाती थी। बहुत ही कठिनाईपूर्वक वे उसकी गोद से हटते एवं अलग होते थे। वे अपनी माँ के अत्यधिक प्यारे बेटे थे ।

पू० गुरुदेव में सर्वाधिक श्रद्धा यदि किसी के प्रति थी तो वह उनकी माता थी। वे अतिशय मन-मौजी स्वतंत्र स्वभाव के थे, परन्तु यदि कहीं वे किसी की भी आज्ञा के बंधन में होते थे तो वह उनकी पूज्या माताजी ही थीं ।

भगवान सदाशिव का रक्तार्चन

सोनभद्र के किनारे के सभी गाँवों में आज भी यह सार्वजनिक प्रथा है कि प्रत्येक संपन्न घर के आगे एक कूप एवं शिव-मंदिर अवश्य हुआ करता है । पू० गुरुदेव श्रीराधाबाबा के गृह के सम्मुख भी शिवमंदिर था । परम पू०गुरुदेव जब पाँच-सात वर्ष के निरे बालक थे, तभी उनके ग्राम में एक

रामचरितमानस के कथावाचक आये थे। ये कथावाचक प्रतिदिन बहुत ही सुरीले कण्ठ से गायनपूर्वक कथा कहा करते थे। बालक श्रीराधाबाबा भी अपनी माता के साथ कथा सुनने जाया करते थे।

रावण की शिवोपासना का विस्तारपूर्वक वर्णन करते हुए एक दिवस कथावाचकजी ने निम्न चौपायी की बड़े ही भावपूर्वक व्याख्या की । यह चौपाई थी -

सादर शिव कहुँ शीश चढाये । एक-एक के कोटिन्ह पाये ।

निरे पाँच-छह वर्ष के बालक पू० गुरुदेव में यह शिवकथा सुनते-सुनते ही शिवोपासना करने की उत्कट प्रवृत्ति जाग उठी । मन ही मन में उन्होंने शिवपूजन का निश्चय कर लिया ।

शिवोपासना में उन्होंने रावण को अपना आदर्श बनाया। शीश काटकर अर्पण करने का तो इतने छोटे बालक में साहस था नहीं अत: अपने घर के सम्मुख ही जो शिवमंदिर था, उसके लिंग पर अपनी अँगुली को नये ब्लेड से चीरकर एक दो बूँद रक्त प्रतिदिन अर्पण करने का इन्होंनें मन बना लिया । वे राजासाहब के घर से माँगकर एक नया ब्लेड ले आये और प्रतिदिन अपनी अँगुली चीरकर एक दो बूँद रक्त अपने घर के आगे जो शिवलिंग स्थापित था, उस पर चढाने लगे ।

पू० गुरुदेव के सबसे बड़े भाई श्रीतपस्वीनाथजी मिश्र नित्य नियमानुसार विधि-विधानपूर्वक श्रीशिवजी की पूजा किया करते थे । एक दिवस वे जब पूजा कर रहे थे तो उन्होंने भगवान् के विग्रह में रक्त-बिन्दु देखा। उन्होंनें इसे दैवीप्रकोप की पूर्व-सूचना मानी । वे अशुभ की आशंका से काँप उठे। उन्होंने उस दिन भगवानकी अति दैन्यभरी विनय की और उस रक्त बिन्दु को स्वच्छ कर सविधि पूजा की। अगले दिन भी जब बाबा के अग्रज पूजा करने गये तो पुन: ताजे रक्त बिन्दु के चिन्ह उन्हें दिखाई पड़े। वे कल्पना भी नहीं कर पाये कि यह सब क्रिया उनका अनुज चक्रधर (सबसे छोटा भाई) कर रहा है।

प. पू. गुरुदेव तो नित्य ही रक्त चढाते थे। जब प्रत्येक दिन बड़े भाई पूजा के समय रक्त चढा देखने लगे तो अमंगल की आशंका से घर के सभी लोगों का मन आक्रान्त हो गया। अन्तत: खोज हुई और राधाबाबा पकड़े गये। उनकी अँगुलियों में चीरे जाने का चिन्ह स्पष्ट परिलक्षित हो गया। बड़े भाई ने जब उन्हें डाँट लगायी तो ये अपनी माँ के आँचल में दुबक गये।

प. पू. गुरुदेव की शिवभक्ति की पेंग फिर भी कम नहीं हुई। एक दिन जब इनकी पाठशाला की छुट्टी होने वाली थी कुछ लोग इनके स्कूल के पास से ही एक मुर्दा शव की अर्थी ले जा रहे थे। पू. गुरुदेव श्मशान का पता लगाने इनके पीछे हो लिये। उस दिन तो उन्हें श्मशान का पता ही लग पाया। दूसरे दिन यद्यपि इन्हें भूत का अत्यधिक भय लगा - परन्तु फिर भी शिव-शिव नाम जपते हुए इन्होंने किसी प्रकार मुट्ठी भर चिता उठायी और तीव्र गति से भागकर घर में पहुँच कर साँस ली। दूसरे दिन इन्होंने प्रातःकाल ही शिवलिंग पर चिता भस्म चढा दी। श्रीतपस्वीनाथजी जब पुनः पूजा करने लगे तो चिता भस्म देखकर समझ गये कि फिर यह उपद्रव चक्रधर ने ही किया है। इस बार इन्होंने पू. गुरुदेव को प्यार से समझाया तथा भगवान शिव की किस प्रकार सात्विक रीति से पूजा करनी चाहिये- इसका सब विधान सिखाया। अब पू. गुरुदेव जलाभिषेक, पुष्पार्पण, एवं स्तुति वंदनादि से पूजा करने लगे।

पू० गुरुदेव को बचपन में स्कूल जाना अच्छा नहीं लगता था । वे स्कूल जाने से बचना चाहते थे, परन्तु बच नहीं पाते थे । घरवाले ज्यों-त्यों करके उन्हें स्कूल भेज ही देते । एक दिवस उन्हें एक उपाय सूझा । वे सोचने लगे कि भूतग्रस्त होने का स्वाँग रचा जाये तो शायद स्कूल जाने से बचाव हो जाय। स्कूल में प्रतिदिन ही प्रार्थना होती थी। एक दिन ज्योंही प्रार्थना समाप्त हुई, वे भूतग्रस्त व्यक्ति जैसी चेष्टा करने लगे । स्वाँग सही उतरा और लड़के उन्हें घर पहुँचा आये । उन्होंनें अपने मुख से फेन निकालना प्रारंभ कर दिया । माँ घबड़ा गयी । कुछ उपचार किया गया तथा माँ ने स्कूल जाने की मनाही कर दी । इस प्रकार कुछ दिन के लिये स्कूल जाना बंद हो गया । थोड़े दिन तो ऐसे ही चला पुनः स्कूल जाना प्रारंभ करना पड़ा ।

एक दिन पू० गुरुदेव अपने घर के आँगन में खेल रहे थे । इतने में एक रामानन्दी साधु इनके द्वार पर आये । उनके ललाट पर भव्य तिलक विराजित था । वे द्वार पर खड़े हो कुछ देर तक तो एकटक पू० गुरुदेव की ओर देखते रहे, फिर चले गये । उनके चले जाने के पश्चात् पू० गुरुदेव का मंन इतना शान्त हो गया कि क्या कहें। अपने घर के बाहर आकर पू० गुरुदेव सिद्धासन लगाकर बैठ गये । उनकी आँखों से निरन्तर अश्रुधारा

प्रवाहित हो रही थी । थोड़ी देर पश्चात् जब घरवाले आये और विक्षेप हुआ तो इनका वह भाव प्रशमित हुआ।

शिव कृपा से मेडल पुरस्कार

पू. गुरुदेव को पाठशाला में पहले 'सी' कक्षा में भरती किया गया था। पहली कक्षा में जाने के पहले ए.बी.सी. इन तीन कक्षाओं में पढना उन दिनों परमावश्यक होता था। पू. गुरुदेव इतने मेधावी थे कि सभी विषयों में इन्हें सर्वोच्च अंक प्राप्त होते थे। परन्तु अंकगणित में ये सदा असफल हो जाते थे। अध्यापकगण इन्हें अन्य विषयों में अति मेधावी समझ अंकगणित में नम्बर नहीं होने पर भी प्रोन्नत कर देते थे। यह सन् १९२० की बात है। तब पू. गुरुदेव की वय मात्र सात वर्ष की थी। उन दिनों स्कूलों में प्रतियोगिताएँ होती थीं, और सफल शिक्षार्थी को पुरस्कार 'मेडल' दिया जाता था। प. पू. गुरुदेव का मन भी चमकते तमगे को देखकर बहुत प्रलुब्ध था। परन्तु मात्र इच्छा करने से तो मेडल मिलता नहीं था। ऊँची कूद, लम्बी कूद, दौड़, सभी प्रतियोगिताओं में यद्यपि पू. गुरुदेव ने अपना नाम लिखाया, परन्तु स्कूल के लम्बे-तगड़े विद्यार्थी इन सभी प्रतियोगिताओं में सफल हो गये। उनके सम्मुख पू. गुरुदेव स्पर्द्धा में टिक नहीं पाये। असहाय और पूर्ण असफल होने पर इन्होंने भगवान् शंकर का आश्रय लिया और माथा टेककर कातर स्वर में उनके सम्मुख पुरस्कार मेडल दिलाने की प्रार्थना कर दी। उनका सहज विश्वास था कि भगवान अवश्य विनती सुनेंगे। विनती करते-करते उनके मन में एक अन्तर्ध्वनि उठी -"तुम गीत सुनाओ, तुम गीत सुनाओ।" बस पू. गुरुदेव अपनी भाभी से दो गीत सीखकर याद करके आये एवं इन गीतों को प्रतियोगिता में उन्होंने सुना दिया। प्राकृत धरातल पर जो संभव नहीं था, वह भगवत्कृपा से संभव हो गया। पू. गुरुदेव इतनी छोटी कद के थे कि उन्हें टेबुल पर खड़ा किया गया। उनके साथ कोई साजिन्दा भी नहीं था। परन्तु इस समय पू. गुरुदेव नहीं भगवान् शिव प्रतियोगिता में गीत गा रहे थे। सभा का सारा वातावरण पू. गुरुदेव की कोकिल कंठी अति सुरीली ध्वनि से मुखरित हो उठा। गीत सुनते समय प्रधानाचार्यजी ही नहीं, सारे अध्यापक एवं विद्यार्थी भरे हृदय से स्तब्ध थे। श्रीप्रधानाचार्यजी का हृदय तो इतना भरा था कि उन्होंने तत्काल पारितोषिक कार्यक्रम प्रारंभ होने के पहले ही पू. गुरुदेव को

संगीत पुरस्कार दे दिया। गायन के बोल थे - **"सुधि लीजै प्रभो ! क्यों बिसारा हमें !"** पुरस्कार का तमगा ज्यों ही पू. गुरुदेव की कमीज पर लगाया गया उनके मन में प्रसन्नता की सीमा ही नहीं रही। यह पुरस्कार जब पू. गुरुदेव ने अपनी माँ को दिखाया तो वे भी प्रसन्नता से फूल उठीं।

इन घटनाओं से पू० गुरुदेव इतने भगवद्विश्वासी हो गये थे कि वे अपनी छोटी सी भी माँग प्रायः भगवान् के सम्मुख ही रखते थे । एकबार उन्हें पेंसिल का लिखा मिटाने के लिये रबर की आवश्यकता हुई, उन्होंनें इसे अन्य किसी को भी न कहकर मात्र भगवान् को कहा । उसी दिवस अथवा दूसरे दिवस पू० गुरुदेव की माताजी उन्हें मेला दिखाने के लिये ले गयीं, और एक दुकान से बिना कहे-सुने रबर दिला आयीं । इसी प्रकार एक बार उनके मन में कोई विशेष मिठाई खाने की इच्छा हुई, उन्होंने मन ही मन भगवान् से कहा थोडी देर बाद उनका एक सहपाठी वही मिठाई उन्हें खिलाने अपने कमरे में ले गया । उस साथी को तो गुरुदेव ने आभास भी नहीं दिया था कि उनकी इच्छा अमुक मिठाई खाने की है । दयामय भगवान् उनकी हर इच्छा पूरी करते रहते थे ।

फखरपुर ग्राम में जो स्कूल था, वह मात्र मिडिल कक्षा तक था । प्राइमरी स्कूल की सभी परीक्षायें पू० गुरुदेव ने सर्वोच्च अंकों से पास की थीं इसी प्रकार मिडिल तक भी अन्य विषयों में सर्वोच्च अंक प्राप्त कर लेने के कारण गुरुदेव को अंकगणित में असफल होने पर भी प्रोन्नत कर दिया जाता था । मिडिल कक्षा की परीक्षा के पश्चात् अब उन्हें राजकीय छात्रवृत्ति प्राप्त हो जाये इसकी चेष्टा की जा रही थी । राजकीय छात्रवृत्ति उसी छात्र को मिलती थी, जिसकी योग्यता सभी विषयों में सर्वोच्च अंक प्राप्त करने वाले की होती थी । अन्य विषयों में तो पू० गुरूदेव के निर्विवाद सर्वोच्च अंक होते ही थे, मात्र अंकगणित में ही ये असफल हो जाते थे । अतः इस बार इन्होंने अंकगणित में भी पूर्ण सफल होने के लिए भगवान् शिव से प्रार्थना की ।

इस बार भगवान् शिव की ऐसी प्रेरणा हुई कि तुम अंकगणित के बारह प्रश्न अपने बड़े भाई से हल करवा कर रट लो । भगवत् प्रेरणा के अनुसार इन्होंने ऐसा ही किया । संयोगवश इन्ही बारह प्रश्नों में से परीक्षा में प्रश्न पूछे गये और पू० गुरुदेव इस प्रकार सभी विषयों में सर्वोच्च अंक प्राप्त कर उत्तीर्ण हो गये ।

विवाह एवं रमल विद्याविद् साधु की भविष्योक्ति

जैसे ही पू० गुरुदेव ने मिडिल (आठवीं) कक्षा उत्तीर्ण की अरई ग्राम के एक अति सात्विक पाठक-कुल की ब्राह्मण कन्या से इनका विवाह कर दिया गया । कन्या का नाम जगाधरी देवी था । विवाह के समय गुरुदेव की वय मात्र चौदह वर्ष की थी और गुरुपत्नी अ० सौ० जगाधरी देवी मात्र नौ वर्ष की अबोध बालिका थीं । उन दिनों कन्या के रजस्वला होने के पूर्व ही विवाह आवश्यक माना जाता था ।

पू० गुरुदेव के श्वसुर भी दुर्गा के सिद्धभक्त एवं ज्योतिषी थे । जब उनके गृह में कन्या जगाधरी का जन्म हुआ तो उन्होंने इसकी भी जन्मपत्री बनायी । जन्मपत्री देखते ही पिताजी ने तत्क्षण जान लिया कि इस बालिका का पति सन्यासी एवं भगवान् का सिद्धभक्त होगा । बालिका के विवाह के पूर्व ही यह बात बालिका जगाधरी को भी बता दी गयी । इस बात का पूर्व से पता होने के कारण बालिका को पतिव्रता धर्म एवं पतिभक्ति का पाठ तो पढाया गया परन्तु साथ ही साथ उसे यही बताया गया था कि तेरे भाग्य में घोर त्याग ही त्याग है । अत: निरी बाल्यावस्था में ही पू० माताजी, जगाधरी देवी को गृहस्थियों के भोगों से उपरति की ही उनके पीहर में शिक्षा दी गई ।

पू० गुरुदेव जब आठवीं कक्षा के छात्र थे, एक दिवस वे स्कूल के मुख्य लोहे के द्वार के पास खड़े थे । उसी समय उनके पास एक साधु आये । उस साधु ने कहा मुझे भूख लगी है, कुछ पैसे हों तो दे दो । पू० गुरुदेव ने उससे विनोद में कहा कि यदि तुम यह बता दो कि मेरी जेब में कुल कितने पैसे हैं, और तुम्हारा उत्तर सही निकला तो जितने पैसे मेरी जेब में हैं, सब तुम्हें दे दूँगा । वह साधु रमलविद्या का ज्ञाता था, उसने जेब से पासे निकाले और उनसे गिनती करके सही-सही जितने पैसे पू० गुरुदेव की जेब में थे, बता दिये । उसके पश्चात् उसने यह भी बताया कि तुम्हारे आत्यन्तिक सुख के दिन इस तिथि से प्रारंभ होंगें । पू० गुरुदेव कहते थे कि उन्होंने जब सन्यास ग्रहण किया तो वह तिथि ठीक वही थी जो उस साधु ने रमल विद्या से बतायी थी और वही तिथि मेरे जीवन से सदा के लिये दुखों का अंत कर गयी थी ।

शिक्षक खालिक साहब

सन् १९२७ ई० में पू० गुरुदेव ने मिडिल परीक्षा उत्तीर्ण की । फखरपुर ग्राम में उन दिनों मिडिल स्कूल ही था । अतः आगे की पढाई के लिये उन्हें राजकीय छात्रवृत्ति के साथ जिला हाई स्कूल, गया में भर्ती किया गया ।

इस जिला स्कूल में जनाब खालिकसाहब नामके एक मुसलमान मास्टर थे । वे कक्षा में पढाते समय अधिकांशतः हिन्दूधर्म की निन्दा किया करते थे। हिन्दू विद्यार्थियों को उनकी बातें चुभना स्वाभाविक ही था । पू० गुरुदेव अपनी प्रतिभा एवं नेतृत्व के गुणों के कारण कक्षा में विद्यार्थियों के अग्रगण्य नेता थे।

इन्होंने मास्टर साहब से सभी विद्यार्थियों का प्रतिनिधित्व करते हुए हिन्दूधर्म की भविष्य में निंदा न करने की विनय की । परन्तु इससे वे महोदय निवृत्त होने के स्थान पर और उग्र हो गये और अधिक से अधिक निन्दा करने लगे ।

पू० गुरुदेव ने एक बार उन्हें और समझाने की चेष्टा की परन्तु फल उलटा ही निकला । उन शिक्षक महोदय की हिन्दूधर्म-निन्दा की प्रवृत्ति दिन-प्रतिदिन बढ़ती ही जा रही थी ।

अब पू० गुरुदेव ने उनको ईंट का उत्तर पत्थर से देने का उपाय सोचा। उन्होंनें आर्यसमाज की सत्यार्थप्रकाश नामक पुस्तक के चौदहवें समुल्लास का गहन अध्ययन किया । उन्होंनें अनेक आर्यसमाजियों से जो अरबी एवं फारसी के भी विद्वान् थे, वे सभी स्थल एवं प्रसंग कंठस्थ याद किये जिनके आधार पर इस्लाम धर्म की धज्जियाँ उड़ायी जा सके । इस प्रकार इन्होंने इतनी सामग्री संकलित कर ली जिससे वे इन शिक्षक महोदय को पर्याप्त उत्तर दे सकें और उनका मुख बंद कर सकें ।

एक दिन खालिकसाहब जैसे ही इनकी कक्षा में पढाने आये और अपनी पूर्व प्रवृत्ति के अनुसार हिन्दूधर्म की निंदा करने लगे, पू० गुरुदेव ने उनसे स्वयं कुछ निवेदन करने की अनुमति माँगी । अनुमति मिलते ही पू० गुरुदेव ने मुसलमान धर्म के विरोध में ऐसा तार्किक प्रवचन किया कि जनाब खालिक साहब निरुत्तर तो हुए ही साथ ही सारी कक्षा के सम्मुख बहुत ही लज्जित हुए। उन्हें पता ही नहीं था कि इन अल्पज्ञ शिशुओं में कोई ऐसा मेधावी

प्रवक्ता भी हो सकता है, जिसे कुरान और हदीस जैसे फारसी-अरबी ग्रंथों का भी इतना विशद और सूक्ष्म ज्ञान हो । अब तो उनकी क्रोधाग्नि में घी पड़ गया । श्री खालिक साहब अपना संतुलन खो बैठे और उन्होंने मन ही मन गुरुदेव से बैर निकालने का संकल्प ठान लिया ।

महासिद्ध संत से मिलन

जब पू० गुरुदेव मात्र पन्द्रह वर्ष के थे, उनका परिचय एक महासिद्ध संत से हुआ । उस समय वे गया जिला स्कूल में नवीं कक्षा के छात्र थे ।

वैष्णवकवि श्रीकृष्णदास कविराज ऐसे महासिद्ध संतों के आंतरिक जीवन का परिचय देते हुए कहते हैं :-

महाभागवत देखे स्थावर जंगम । ताँहाँ ताँर हय नित्य श्रीकृष्ण- स्फुरण ।
स्थावर जंगम देखे ना, देखे तार मूर्त्ति । सर्वत्र हय निज इष्टदेव स्फूर्ति ।।

महाभागवत संतस्थावर-जंगम जो कुछ देखते हैं, उसमें उनको परमात्मा का स्फुरण होता है । वे स्थावर-जंगम नहीं देखते, उनमें परमात्मा को ही देखते हैं और तब उन्हें सर्वत्र निज इष्ट की स्फूर्ति होने लगती है ।

यह परम सत्य है कि एक परमात्मा विश्व के प्रत्येक अणु-परमाणु में व्याप्त है । विश्व के सब रूप उसी के रूप हैं । उसका प्रकाश यद्यपि अनन्त सूर्यों की किरणों से भी अधिक तेजस्वी है, फिर भी माया के आवरण से आवृत रहने के कारण वह जीवों के द्वारा दृश्य नहीं है । सहस्रांशु होते हुए भी वह अंधकार में आवृत जैसा ही रहता है । अतः मायाबद्धजीव उसे देखते हुए भी नहीं देख पाते। ज्ञात होते हुए भी वह उनके निकट चिरकाल के लिए अज्ञात ही रह जाता है । जिन संतों की, भगवत्कृपाप्राप्त जीवों की आवृत दृष्टि जब उन्मुक्त हो जाती है, तब अनन्त प्रकार के प्रमेय, प्रमाण तथा प्रमातारूप यह जगत् विलुप्त होकर एक नित्य सदोदित दृष्टि का उदय होता है; उस समय उस परमसिद्ध भक्त के निकट जो कुछ भी प्रतिभात होता है, वह परमेश्वर के प्रकाशमान रूप के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं होता ।

परम भागवतों को तब यह जगत एक सविशेष रूप में दृष्टिगोचर होता है।

भोक्तैव भोग्यभावेन सदा सर्वत्र संस्थित:

भोक्ता भोग्य सभी कुछ तुम हो, तुम ही स्वयं बने हो भोग– एकमात्र भोक्ता परमेश्वर ही भोग्य रूप में एवं भोग होकर निरंतर सर्वत्र उनके सम्मुख विद्यमान रहता है ।

उस समय ऐसे विलक्षण संतों को सर्वभूत में भगवद्रूप और भगवान् में सर्वभूत देखकर उनका हृदय एक अपूर्व प्रेम रस में आप्लुत रहता है ।

बाह्य रूप में इन परम भागवतों की रहनी चाहे लोक-व्यवहार विरुद्ध ही होती हो, उनकी भाषा, उनका व्यवहार चाहे घोर तमोगुणी पागलों की तरह असंबद्ध प्रलाप करने वाला ही हो, परन्तु वे अपने शरीर के अणु-अणु से सदा सर्वत्र महामंगल ही महामंगल एवं प्रेमरस ही बहाते रहते हैं । वे अपने अंतरंग जीवन के सत्य को ऊपर की विषम रहनी दिखाकर अत्यंत संगोपित रखते हैं परन्तु भीतर वे प्रियतम-प्रेम-भावित-मति हुए रहते हैं । वे बाह्य गाली-गलौज भी करते हैं, अथवा पागलों की तरह पत्थर भी फैंकते हैं तो भी अपने प्रियतम के प्रेमरस में निरंतर छलकते ही रहकर उनकी यह सब क्रिया होती रहती है ।

पू० गुरुदेव को जिन महासिद्ध संत के दर्शन हुए, उनका वेष अर्धनग्न असामान्य था । वे गया की कलक्टरी कचहरी के मुख्य प्रवेशद्वार की दीवार का सहारा लगाकर पड़े रहते थे । एक फटी गुदड़ी और चीनी मिट्टी का एक बर्तन ही इनका सब संग्रह था । पहनने के वस्त्र फटे-चिथड़े ही थे । इनके निम्नांग भी वस्त्रों से गोपनीय नहीं रह पाते थे ।

छात्र स्वभावत: चंचल स्वभाव के तो होते ही हैं, वे अवकाश के समय इनके वस्त्र खींचकर इनको अधिक नग्न करने की चंचल बाल-चेष्टा करते, कोई इनकी पीठ में गुदगुदी करता । इनको ये गाली दिया करते अथवा इन पर पत्थर फैंकते थे ।

हां, जिला का अंग्रेज कलक्टर उधर से जब भी गुजरता, तब वह अपने घोड़े से उतर कर जूता खोलकर अपना हैट (सिर पर पहनने की अंग्रेजी टोपी) उतार कर सम्मानपूर्वक दो-तीन मिनट इनके सम्मुख खड़ा हो जाया करता था । ये कुछ दिन तो उसकी उपेक्षा करते रहे । फिर उसकी ओर अतिस्नेह से देखा करते थे । एक दिन जब वह ऐसे ही खड़ा था, इन्होंने

कहा "जा, रोज आता है, तेरा मनोरथ पूर्ण हो जायेगा, तेरी पदोन्नति हो जायेगी।" कहते हैं कि कुछ ही काल में उसकी पदोन्नति होकर वह कमिश्नर हो गया ।

पू० गुरुदेव कहते थे, एक दिन बच्चों की देखादेखी इन्होंने भी उन सिद्धमहात्मा को छेड़ना प्रारंभ कर दिया । वे निर्भय रूप से उन महात्माजी के पास चले गये और उनकी बगल में, पेट में, पीठ में, गुदगुदी करने लगे । महात्माजी ने इन्हें कभी गाली नहीं दी। अपितु इनके अधिक छेड़खानी करने पर वे एक गीत गाया करते। गीत के बोल थे -

लडकैया की बान तैंने ना छोडी कन्हैया ।

वे पू० गुरुदेव के दोनों हाथ पकड़ लेते, और उनको अतिशय प्यार की दृष्टि से देखते हुए यह गीत गाया करते । पू० गुरुदेव कहते थे कि-ये महासिद्ध संत थे । इन्होंने मुझमें साक्षात् श्रीकृष्ण को देखकर श्रीकृष्णभक्ति का बीजारोपण कर दिया था। पू० गुरुदेव के जीवन में आठ महासिद्ध संत आये, जिनमें ये महात्मा जो उन्हें गया जिला कलक्टरी में निरे बालकपन में मिले, पहले थे ।

विप्लववादियों के मध्य

ज्वलुक ज्वलुक विप्लववह्नि नगरे नगरे
भस्म होक् राक्षसेर स्वर्ण लंकापुरी ।

विप्लवाग्नि नगर नगर में प्रज्वलित हो ।

राक्षसराज रावण अर्थात् अंग्रेजी सरकार की स्वर्णपुरी लंका भस्म हो। यह नारा उन दिनों बिहार के नगर-नगर में विप्लववादियों द्वारा प्रचारित किया जा रहा था। पू० गुरुदेव का रुझान भी विप्लववादियों की गतिविधि की तरफ अधिक था । कांग्रेस में तो पद-लोलुपता की प्रवृत्ति अधिक थी। भले ही कार्यक्षेत्र में उनकी सक्रियता कुछ भी नहीं हो, परन्तु कांग्रेस के कार्यकर्त्ता समाचार पत्रों में येन-केन-प्रकारेण अपना नाम छपाने में अधिक रुचि रखते थे ।

क्रांतिकारी लोग गीता हाथ में लेकर प्रतिज्ञा करते थे और निस्वार्थ भाव से देश के लिए प्राण- त्याग का व्रत लेते थे । उनको देश की सेवा के द्वारा ईश्वर-सेवा का पाठ पढाया जाता था । गीतोक्त निष्काम कर्मयोग की शिक्षा

दी जाती थी । क्रांतिकारी लोगों में मूक आत्म-बलिदानी ही अधिक थे; क्योंकि सुगुप्तता ही उनका रक्षा कवच होती थी । इनमें सर्वोच्च स्तर के कतिपय कार्यकर्त्ता तो बहुत ही उत्तमकोटि के चरित्रवान् त्यागी थे । क्रांतिकारी मशाल जलाये रखने के लिये पैसे की जरूरत होती थी । विप्लववादियों को चंदा देने में पुलिस का कोप-भाजन बनने का भय था । इससे सामान्यतः लोग चंदा नहीं देते थे । जो सहानुभूति रखते थे वे भी छिपकर सहायता करते थे । हथियारों को खरीदने और कार्यकर्त्ताओं की जीवनरक्षा के लिए धनसंग्रह अनिवार्य था । इसलिये अनेक बार धनसंग्रह के लिए उन्हें साहसिक कार्य भी करने पड़ते थे ।

क्रांतिकारी दृष्टि से पू० गुरुदेव का कार्यक्षेत्र संपूर्ण बिहार प्रांत था । वेष बदलने में पू० गुरुदेव बहुत ही कुशल थे । कभी लाठी लेकर कूब निकालकर चलते, कभी मियाँजी मुसलमान बन जाते ; कभी वृद्ध बन जाते और कभी रोगी। परिवर्तित वेष में अनेक स्थानों में अनेक नामों से ये काम करते थे अतः पुलिस जिस नाम एवं वेष को पकड़ती, ये उस वेष को छोड़कर गायब हो जाते। ये अब तक अन्यान्य प्रकार की सुगुप्तता तथा सतर्कता के कारण पुलिस की दृष्टि में नहीं चढे थे । पू० गुरुदेव की सतर्क कार्यवाही से उनका क्रांतिकारियों को सहयोग निर्विघ्न चलता रहता यदि मध्य में एक गंभीर बाधा नहीं आयी होती ।

इस बार पुलिस को अपने प्रयास में कुछ सफलता मिल गयी । पुलिस ने बिहार प्रांत के क्रांतिकारी दल के अनेक गिरफ्तार सदस्यों के गृहस्थानों की तलाशी ली थी एवं इस तलाशी में पू० गुरुदेव का एक पत्र पुलिस के हाथ में लग गया था ।

इस पत्र में गुरुदेव ने अपने मित्र को लिखा था, "मैं बंदा परसों आऊंगा।" पत्र में जो बंदा शब्द लिखा गया था उस शब्द की बाँदा से बेतुकी तुक बैठाकर पुलिस पू० गुरुदेव को अंग्रेजी शासन के विरुद्ध षडयंत्र के अपराध में फँसाना चाहती थी। संयोग ऐसा था कि उन्हीं दिनों बाँदा नगर में क्रांतिकारियों ने तीन पुलिस इंस्पैक्टरों की हत्या कर दी थी । इस हत्याकाण्ड के पश्चात् संदेह के नाम पर अनेक लोग गिरफ्तार कर लिये गये थे ।

जब उन गिरफ्तार लोगों को यह पता लगा कि पू० गुरुदेव का पत्र उनके घर से पुलिस के हाथ पड़ गया है तो इस बात की सूचना देने के लिए उन्होंने एक व्यक्ति को पू० गुरुदेव के घर फखरपुर भेजा । वह व्यक्ति

अड़तालीस मील पैदल चलकर लोगों की दृष्टि से स्वयं को बचाता हुआ पू० गुरुदेव के पास आया था । उस व्यक्ति ने आकर संदेश दिया कि पू० गुरुदेव को तुरंत फरार हो जाना चाहिए । क्योंकि उस पत्र के आधार पर पुलिस उन्हें गिरफ्तार करने सक्रिय हो चुकी है । पुलिस के द्वारा गिरफ्तार होने का अर्थ ही था काल-मुख में अपने आपको झौंकना ।

उस व्यक्ति से संदेश मिलते ही पू० गुरुदेव को परिस्थिति की गंभीरता का अनुमान हो गया । उन्होंने उस व्यक्ति को अपनी माँ से कहकर तुरंत यात्रा खर्चा दिलाया और कुछ रुपये अपनी जेब में डालकर वे गया के लिए प्रस्थान कर गये । रास्ते में अरहर के खेतों में छुपते हुए एवं वेश बदलते वे रात को सीधे राजा साहब श्रीअविमुक्तेश्वरबहादुरसिंह के घर पर गया नगर पहुंच गये। असमय में और बदले वेष में रात्रि में पू० गुरुदेव को देखकर एकबार तो राजा साहब चौंके । परन्तु फिर चिंतित हुए कहने लगे कि तुम्हारे नाम वारण्ट है और तुम्हें पुलिस गिरफ्तार करने को आतुर है । राजा साहब ने पहले तुरंत भोजन बनवाया और थके-माँदे पू० गुरुदेव को भोजन कराया। रातभर पू० गुरुदेव ने उनके ही यहाँ विश्राम किया ।

पू० गुरुदेव चाहते थे कि उन्हें कहीं से चिकित्सा प्रमाणपत्र मिल जाय जिससे वे सिद्ध कर सकें कि उन दिनों जब बाँदा में हत्याकाण्ड हुआ था, वे डाक्टर की चिकित्सा में राजासाहब के घर पर ही थे । इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता कि इस काण्ड से उनका कोई संबंध नहीं था ।

दूसरे दिवस राजा साहब के एक पारिवारिक डाक्टर के पास पू० गुरुदेव गये और उनसे अपने रजिस्टर में पुरानी अवधि में नाम चढ़वाकर तथा दवा लेकर उन्होंने चिकित्सा प्रमाणपत्र प्राप्त कर लिया । इसके पश्चात् वे निर्भय निश्चिंत रूप से राजा साहब के घर रहने लगे ।

पू० गुरुदेव ने एहतियात के तौर पर यह सब तो किया परन्तु उनका असली विश्वास तो भगवत्प्रार्थना और उनकी अमोघ कृपाशक्ति पर ही था ।

पू० गुरुदेव को दृढ एवं अटूट विश्वास था कि यदि वे निर्दोष हैं एवं बाँदा में मारे गये पुलिस इंस्पैक्टरों की हत्या-योजना में उनका किसी भी स्तर पर तनिक भी हाथ नहीं है तो सत्यस्वरूप भगवान् उनकी अवश्य रक्षा करेंगे। यदि उन्हें इस षडयंत्र का कुछ भी ज्ञान नहीं है तो पुलिस के कोटि-कोटि प्रयत्न निष्फल होंगे और भगवान् अवश्यमेव उनकी रक्षा करेंगें। गुरुदेव इसी

विश्वास के बल पर पूर्णतया निर्भय थे । वे समझते थे कि वे ज्यों ही कातर स्वर से उन्हें पुकारेंगे, वे उसी क्षण उनकी विपत्ति हरने दौड़े आवेंगे ।

पू गुरुदेव के उस पत्र पर विचार करने के लिए पुलिस के एक अंग्रेज डी०आई०जी० के अलावा दो हिन्दुस्थानी अधिकारी नियुक्त किए गये थे । एक सहयोगी अधिकारी राजासाहब के यहाँ अक्सर आते जाते थे । साथ ही ये पू० गुरुदेव से भी अनेक अवसरों में मिल चुके थे । बाहर से कुछ भी अभिव्यक्त न करके वे ध्यानपूर्वक यह पत्र दो-तीन बार पढ गये । साथ ही साथ वे यह भी विचार कर रहे थे कि पू० गुरुदेव को किस प्रकार बचाया जाय ।

उन्होंने डी०आई०जी० महोदय से कहा कि बंदा शब्द के आधार पर चक्रधर मिश्र को षडयंत्रकारी मानना सर्वथा उचित है परन्तु मुझे संदेह है कि इस पत्र को लिखने वाला वस्तुतः चक्रधर मिश्र यही व्यक्ति है। उपाधिकारी महोदय का इसी बात पर जोर था कि यदि यह लिखावट इस बालक की नहीं हुई तो उसके विरुद्ध कार्यवाही करने में परेशानी और जलालत तो होगी ही हमारे सभी प्रमाण कोर्ट में उलटे पड़ सकते हैं । तीसरे अधिकारी तो गुप्तचर विभाग के ही थे, वे अपने विभाग द्वारा लगाया गया आरोप पूर्णतः स्थापित करने के ही पक्ष में थे, परन्तु सर्वोच्च डी०आई०जी० महोदय ने यही निश्चय किया कि यह पत्र पहले लिखावट-विशेषज्ञ के पास भेजा जाय और उसकी रिपोर्ट के आधार पर ही आगे की कार्यवाही की जाय । अब पुलिस विभाग को आवश्यकता थी पू० गुरुदेव की लिखावट की जिससे लिखावट विशेषज्ञ पत्र लेखन की लिपि से तुलना करके अपना निर्णय दे सके ।

पुलिस ने दौड-धूप कर पता लगा लिया था कि पू० गुरुदेव इन दिनों रुग्णावस्था में राजासाहब के मकान पर चिकित्सा करवा रहे हैं । अतः अपने दल-बल सहित पुलिस अधिकारी राजासाहब के घर पहुँचे । पुलिस अधिकारी ने कभी तेज गति से, कभी मंद गति से, कभी मध्यम एवं कभी मिश्रित अनेक प्रकार से वही पत्र तथा और भी गद्यांश पू० गुरुदेव से लिखाये । पू० गुरुदेव ने अपनी लिखावट में कोई बनावट नहीं की । क्योंकि उनका दृढ निश्चय था कि किसी भी अन्य होशियारी से उनकी रक्षा संभव नहीं है, मात्र सत्य का तथा प्रभु की करुणा का ही उन्हें आश्रय ग्रहण करना चाहिये । वे अपने प्रभु पर विश्वस्त और पूर्णतया निर्भर थे । महान् आश्चर्य यह हुआ कि लगातार तीन बार तीन-तीन विशेषज्ञों के पास पू० गुरुदेव की लिखावट भेजी गयी और सभी विशेषज्ञों की सब समय एक ही रिपोर्ट आयी कि यह असली पत्र चक्रधर

मिश्र के हाथ का लिख हुआ नहीं है । इस प्रसंग से उनका दृढ विश्वास हो गया कि भगवान् जैसा सच्चा स्नेही कोई दूसरा संभव ही नहीं है । वे ही जीवमात्र के आत्यंतिक सुहृद हैं अत: अपनी रुचि के अनुमोदन की मात्र उन्हीं से आशा की जा सकती है । भगवान् ही आत्यन्तिक कल्याण करने में समर्थ भी हैं । वे सर्वसमर्थ हैं और एकांतिक हितू भी हैं ।

महात्मा कुम्हार से रक्षाकवच

स्वदेशी आंदोलन के रूप में अंग्रेजी शासन की कुटिल एवं शोषक नीतियों के विरुद्ध सरकार और जनता के मध्य अघोषित युद्ध प्रारंभ हो चुका था । घर-घर विदेशी वस्तुओं की होली जलायी जा रही थी । राजतंत्र ने कूटनीतिक चालों और पशुशक्ति से इसे दबाने का कोई भी मार्ग शेष नहीं छोड़ा था । किन्तु जनता में भी अदम्य उत्साह था । राष्ट्रीयता और देशभक्ति का उद्रेक आबाल-वृद्ध सभी में था । जन-जन के हृदय में दासता से मुक्ति की अग्नि प्रज्वलित हो गयी थी । शनै: शनै: वह प्रचण्ड-प्रचण्डतर दावानल का रूप धारण कर ले रही थी । सरफरोश परवाने उस दावानल के चतुर्दिक अपना सर्वस्व भस्म करने को मँडरा रहे थे ।

इस राष्ट्रीय आंदोलन के कर्णधार महात्मा गाँधी थे । कांग्रेस ने आंदोलन छेड़ रखा था । स्कूलों में, कालेजों में, सार्वजनिक स्थानों में फहराते यूनियन जैक, विदेशी सरकार के ध्वज को लोग उतार कर फाड़कर टुकड़े-टुकड़े कर देते थे और उसके स्थान पर तिरंगा झण्डा, राष्ट्रीय कांग्रेस का ध्वज फहरा देते थे ।

एक दिन पू० गुरुदेव के विद्यालय में भी कुछ छात्रों ने साहस करके फहराता विदेशी सरकार का ध्वज यूनियन-जैक उतार कर फाड़कर फैंक दिया और उसके स्थान पर तिरंगा झण्डा फहरा दिया ।

यद्यपि इस विषय में पू० गुरुदेव सर्वथा अनभिज्ञ थे, परन्तु जनाब खालिक साहब को चुगुल करने का मौका मिल गया और उन्होंने अंग्रेज कलक्टर के कान पू० गुरुदेव के विरुद्ध भर दिये । श्री खालिक साहब यह कहने से भी नहीं चूके कि यह उद्दण्ड छात्र चक्रधर मिश्र राजकीय छात्रवृत्ति भी प्राप्त करता है । अब तो कलक्टर साहब को अत्यधिक रोष हुआ और उन्होंने पू० गुरुदेव का नाम काली सूची में लिख लिया ।

पू० गुरुदेव के घर के पड़ोस में ही एक कुम्हार का घर था । वह प्रतिदिन रात्रि में लगभग एक बजे ही उठ जाया करता । प्रातःकृत्य एवं स्नानादि करके वह चाक की मिट्टी तैयार करके उसे रौंदा करता एवं साथ ही अति सुरीले मधुर स्वर में ब्रह्मानन्द भजनमाला से अनेक सुंदर पद आलापता था । महात्मा कुम्हार की यह भजन निष्ठा प्रातः दो बजे से प्रारंभ होकर सूर्योदय तक चला करती थी ।

पू गुरुदेव उन दिनों गया कांग्रेस कमेटी के सहायक मंत्री थे । उनके पूर्ववर्ती मंत्री एवं सहायक मंत्री दोनों गिरफतार कर लिये गये थे । पू० गुरुदेव इन दिनों स्कूल छोडकर कांग्रेस के आंदोलन में खुलकर भाग ले रहे थे । उन दिनों गाँवों-गाँवों में घूमने एवं आने-जाने के लिये परिवहन साधन तो थे नहीं, सड़कें भी नहीं थी, अरहर के, गन्ने के, धान के खेतों में से पगडंडियों से पैदल ही यातायात था, या बैलगाडियाँ थीं । अतः गुरुदेव दूर-दूर गाँवों में मीटिंग करके प्रायः देर रात में ही घर लौटते थे । मध्यरात्रि में इधर तो पू० गुरुदेव के सोने का समय होता और उधर यह कुम्हार महात्मा के भजन गायन का काल हो जाता । वह अति उच्च स्वर से आलापता –

'तेरे मालिक हैं दीनानाथ सोच मन काहे को करै'

महात्मा कुम्हार का कण्ठ यद्यपि अति मधुर था, परन्तु गुरुदेव की निद्रा तो टूट ही जाती थी ।

पू० गुरुदेव उसे बुलाकर मध्यरात्रि में चिल्लाकर गायन करने से मना करते, राजा साहब से शिकायत की धमकी देते, परन्तु वह भी पूरा हठी था, उनकी सर्वथा परवाह नहीं करता एवं हँसकर अवधी भाषा में उत्तर देता-

"बचुआ ! जब तोहार जीवन में ऐसन संकट आवै क कहीं कोउ सहारा देहिलन वाला न बचै तब तू हमार कुम्हरिया की बात नीक लगे तो याद कर लैहै । साँची बात भैया ! इहै है क निर्बल क, दीनन क, मात्र सहारा भगवान् ही देत हँई और औहू घोर संकट से तोके उबारिहैं ।"

उस समय तो पू० गुरुदेव ने उस कुम्हार को महत्व नहीं दिया परन्तु आगे जाकर उनके जीवन मैं इस कुम्हार की बात बहुत ही चमत्कारिक प्रभाव वाली सिद्ध हुई ।

खुले रूप में कांग्रेस आंदोलन में कार्य करने का फल तो प्रकट होना ही था, पू० गुरुदेव को जब वे मात्र पन्द्रह वर्ष के किशोर थे, छह मास का कठोर कारावास हो गया । उन्हें गया सेन्ट्रल जेल में डाल दिया गया । सेन्ट्रल जेल

का जेलर एक लँगड़ा अंग्रेज था । वह महाक्रूर था । वह लँगड़ा जब जेल का निरीक्षण करने आता तो प्रत्येक कैदी से सलाम कराया करता था । पू० गुरुदेव के सम्मुख भी वह आया, परन्तु पू० गुरुदेव ने इसकी ओर ताका तक नही । तीन बार सलाम करने का हुक्म देने पर भी जब गुरुदेव द्वारा उसकी उपेक्षा हुई तो उसने क्रोध से तिलमिलाकर इतना जोर का घूँसा पू० गुरुदेव की नाक और आँख पर मारा कि गुरुदेव को एक बार तो ऐसा लगा कि उनकी आँख सदा के लिये ही गयी और नाक से खून की धार बह चली। उसी समय वे बेहोश होकर जमीन में चक्कर खाकर गिर पड़े ।

पू० गुरुदेव को इतनी सांघातिक चोट लगी थी कि उन्हें १५-२० दिन अस्पताल में भर्ती कराया गया । अस्पताल में श्री गुरुदेव को यही चिन्ता थी कि पुन: जेल में प्रवेश करने पर उनका उसी क्रूर दानव से पाला पड़ेगा और पुन: वैसी ही निर्मम सांघातिक मार खानी पड़ेगी । उस दानव से उन्हें छुटकारे का कोई भी उपाय समझ में नहीं आ रहा था ।

ऐसे विषम संकट के समय जहाँ से उन्हें बचाने वाला कोई भी सूत्र नहीं था, उन्हें उस महात्मा कुम्हार की बात याद आयी । कुम्हार महात्मा की दी शिक्षा से संभव है उनका त्राण हो जाय, इस आशा से वे मन ही मन "हे गोविन्द! हे गोपाल !! मुझे इस संकट से बचाइये, मेरा आत्म-सम्मान भी बना रहे और इस क्रूर दानवी यंत्रणा का कष्ट भी मुझे नहीं झेलना पड़े, मेरी रक्षा करें"- इस प्रकार वे आर्त्त प्रार्थना करने लगे ।

पू० गुरुदेव स्वास्थ्य लाभ करके अस्पताल से जेल में आ गये । वह लँगड़ा जेलर यद्यपि अनेक बार जेल का निरीक्षण करने आया और उसका व्यवहार अन्य कैदियों के साथ वैसा ही क्रूर रहा, परन्तु गुरुदेव के सम्मुख आते ही वह अतिशिष्ट हो जाता था । एक बार तो पंक्ति में खड़ा कर जब वह कैदियों से सलाम ले रहा था एवं गुरुदेव ने उसे सलाम नहीं किया तो पास में खडे एक कैदी ने गुरुदेव को लक्षित कर उसके सम्मुख शिकायत भी की कि "महानुभाव ! यह कैदी सलाम नहीं कर रहा है ।" किन्तु उसने उसी कैदी की पिटाई कर दी एवं गुरुदेव की उपेक्षा कर दी।

उन दिनों गुरुदेव निरन्तर 'हे गोविन्द, हे गोपाल, हे शिव, हे शंकर' जो भी भगवान् के नाम उनके ध्यानपथ में आते नामोच्चारण एवं प्रार्थना करते रहते एवं उस जेलर में भगवान् ही भगवान् भरे हैं ऐसी भावना प्रगाढ रूप में करते रहते ।

उन दिनों राजनीतिक कैदियों से भी कारावास में सभी प्रकार के श्रम कराये जाते थे । बैल के स्थान पर उन्हें कोल्हू में जुतकर तेल पेरना पड़ता था,चक्की में आटा पीसना पडता था, खेतों में पानी देना पडता, रस्सी बंटने का काम करना पड़ता । चाहे बीमारी हो, निर्धारित काम तो करना ही पड़ता था । जिस दिवस जिस कैदी का निर्धारित कार्य पूरा नहीं होता, उसे भोजन नहीं दिया जाता और दूसरे दिन फिर उस निर्धारित कार्य को पूरा करने पर ही उसे भोजन मिलता था । श्रम में रियायत होना तो बहुत ही कठिन बीमारी में, डाक्टर की सिफारिश से ही संभव होता था ।

परम पू० गुरुदेव गया में छह मास जेल में रहे । जेल से छूटकर आने पर घरवालों द्वारा उन्हें राजनीति से दूर करने की बहुत चेष्टा की गयी । परन्तु अपने निश्चय में अडिग रहकर वे अधिक मनोयोग पूर्वक क्रांतिकारी दल का कार्य करने लगे ।

प्रेत से सहयोग

राष्ट्रीय भावना को उद्दीप्त करने में पत्र-पत्रिकाओं ने घृताहुति का काम किया था । इन साइक्लोस्टाइल मशीनों द्वारा छापे गये हजारों पत्रों को क्रांतिकारी दल के युवक गाँव-गाँव में पुलिस की आँखों में धूल झौंक कर प्रचारित कर देते थे । इन पत्रों में शासन द्वारा अपनायी गयी दमन-नीति की खुलकर आलोचना होती थी । इन पत्रों की आग्नेय भाषा नवयुवकों में विदेशी शासन को, उसके कर्णधारों को समाप्त करने के लिए आत्माहुति देने की तीव्र प्रेरणा जगाती थी । कोई प्रेस अथवा रजिस्टर्ड प्रकाशन होता तो सरकार उसे बंद करने की कार्यवाही भी करती । कुछ लोगों को गिरफ्तार भी सरकार कर लेती तो भी इन बलिदानी युवकों का बोया बीज कहीं न कहीं से फूट पडता । वह प्रचण्डतर स्वर में क्रांति का बिगुल बजाता, आग उगलता और मातृभूमि की लज्जा-रक्षा के लिये उसकी वेदी पर अपनी प्यारी संतानों को सर्वस्व बलिदान की प्रेरणा देता रहता ।

पू० गुरुदेव का बिहार के विप्लववादियों से संपर्क तो था ही, यह संपर्क अंततोगत्वा क्रांति की धधकती ज्वाला में उनको खींच ही ले गया । क्रांतिकारी दल के लोग पाँच-सात बड़े विशाल मकान किराये में ले लेते थे । ये विशाल भवन जो बहुत काल से निर्जन पड़े रहते थे वे ही इनकी कार्यशाला होते थे। इन विशाल भवनों में भी ये गुपचुप पीछे की छोटी बारियों से ही मात्र घोर

रात्रि में प्रवेश करते थे । रात्रि को भी ये टिमटिमाती मोमबत्तियों के प्रकाश में ही काम करते या गुप्त,मंद प्रकाश वाली टोर्च काम में लेते थे । आसपास में रहने वालों को भी यदि इनकी कुछ भी भनक पड़ जाती तो ये दूसरे ही दिन उस मकान को छोड़ कर गायब हो जाते थे । फिर दूसरी बार उस मकान में कदम भी नहीं रखते थे । इस प्रकार इनका कार्य बहुत ही गोपनीय होता था ।

एक बार इन्होंने राजा साहब के प्रसिद्ध भुतहे मकान में ऊपरी तल्ले में एक कमरे में डेरा जमाया हुआ था । यह मकान भुतहे के रूप में सर्वत्र कुख्यात था । अत: उसके पास से भी प्राय: लोग गुजरते नहीं थे । पू० गुरुदेव की लेखनी तो ओजस्वी थी ही, वे अपने साथियों सहित रात्रिभर में साइक्लोस्टाइल मशीन से पन्द्रह बीस हजार पर्चे प्रतिदिन छाप लिया करते थे। नवयुवकों का गुप्त-दल रात्रि में ही इन पर्चों को सारे प्रांत में मुख्य-मुख्य शहरों के प्रमुख बाजारों और चौराहों में चिपका देता था ।

सरकार इन पर्चों के विप्लवी स्वर से संत्रस्त हो उठी । परन्तु वह इनका रहस्य कि ये कहां छापे जाते हैं, कौन इनका प्रांतव्यापी प्रचार करते हैं, कुछ भी पता नहीं लगा सकी ।

जिस भुतहे मकान में पू० गुरुदेव का प्रेस था, उसमें एक दिवस जब रात्रि में पर्चे छापने का कार्य चल रहा था, इनका एक साथी लघुशंका करने के लिये नीचे आँगन में गया था। अचानक उसे एक बहुत ही दीर्घकाय ताड़ की तरह लम्बा व्यक्ति दिखाई पड़ा । वह व्यक्ति भयग्रस्त हुआ ऊपर लौट आया और उसने सारी गाथा गुरुदेव को सुनायी ।

पू० गुरुदेव तुरंत एक गुप्त टार्च लेकर अपने साथियों के साथ उस स्थान पर पहुँचे, जहां उस साथी को वह दृश्य दिखाई पड़ा था । वहां और तो कुछ नहीं था मात्र उस मृतात्मा के नाम की चौतरी थी जिसे 'प्रेत का नाडा' कहा जाता था ।

पू० गुरुदेव ने अपने एक साथी को कहकर ऊपर के कमरे में इनके नाश्ते के लिए जो गुड़, भुनी लाई तथा चने रखे थे, वे मंगाये । वह सब प्रसाद के रूप में उस नाडे की चौतरी में रख दिया गया । अब पू० गुरुदेव ने उस प्रेत से प्रार्थना कर दी कि "भाई ! हम तो ऐसे ही मृत्यु को अपनी हथेली में रखकर चलते हैं, हमारे पास मात्र ये चने और गुड़ ही धन संपत्ति है। सो मित्रतावश तेरे सम्मुख भी हमने यह तुच्छ भेंट रख दी है, शेष तो हमारा

सब कुछ देश को अर्पित है। यहां पुलिस की नजर नहीं पड़े इसलिये तेरी शरण में अपना देशसेवा का कार्य कर रहे हैं । अब भविष्य में यदि तूने हममें से किसी को भी भयग्रस्त किया तो इसे निश्चय मान लेना कि हम तेरा यह नाडा चौतरी तोड़-फोड़ कर धूलि कर देंगें । मृत्यू से बड़ा दण्ड तो तू हमें दे ही नहीं सकता । अन्यथा हम तो तेरी शरण हैं, दयाकर हमें भयभीत मत कर, हमारा सहयोगी बन ।"

इसके पश्चात् उस प्रेत ने पू० गुरुदेव के साथियों को कभी भयभीत नहीं किया । हाँ, एक बार किसी सूत्र से पुलिस को भनक पड़ गयी । ये लोग दिन में वहां रहते ही नहीं थे । साइक्लोस्टाइल मशीन, स्टेशनरी की कागज की रीमें, टाट के बोरों में डालकर किसी अंधेरी कोटड़ी में अवश्य डाल देते थे, जिससे यदि पुलिस दिन में आ भी जाय तो उसे वह सामग्री नहीं मिल पावे । उस दिवस पुलिस का एक इंस्पैक्टर कुछ सिपाहियों सहित आ पहुँचा । उसने उस भवन की तलाशी लेनी चाही । ज्योंही पुलिस ऊपरी तल्ले में चढ़ने के लिए सीढ़ियों के मध्य पहुंची, उसे वह लम्बा ताड़ जैसा प्रेत भयावह मुद्रा में झपटता दृष्टिगोचर हुआ। पुलिस वाले वहाँ से उलटे पैरों ऐसे भागे कि फिर कभी उस मकान की ओर उन्होंन मुख ही नहीं किया ।

पू० गुरुदेव एवं उनके दल ने दूसरे ही दिन उस मकान को खाली करके अन्य दूसरे भवन में स्थानान्तरण कर लिया ।

जेल में दारुण यंत्रणा एवं भगवत्कृपा प्रकाश

इस देश का पुरातनकाल से यह दुर्भाग्य ही रहा है कि यहाँ जयचंदों का प्रवेश किसी भी देशभक्तिजन्य कार्य में हो ही जाता है । पू० गुरुदेव के साथियों में भी एक जयचंद का समावेश हो गया एवं उसने पुलिस का informer मुखबिर बनकर पूज्य गुरुदेव की कार्यशैली की राई-रत्ती सूचना सरकार को दे दी । एक रात जब इनका दल कई हजार पर्चे छापकर शयन करने के मूड में था, पू० गुरुदेव को ऊपरी छत से एक व्यक्ति मकान की चारदीवारी के पास छुपा हुआ दृष्टिगोचर हुआ । पू० गुरुदेव ने उसकी खाकी कमीज भी देख ली । ये तुरंत ही समझ गये कि वह व्यक्ति पुलिस का सूचना देने वाला इंफॉर्मर है । वह थोड़ी-थोड़ी देर में उठ-उठ कर भवन की ओर देखता था तथा फिर छुप जाता था ।

पू० गुरुदेव समझ गये कि पुलिस से वे घिर गये हैं और कतिपय क्षणों में पुलिस आ धमकने ही वाली है । प्रत्युत्पन्नमति पू० गुरुदेव ने तत्क्षण ही सारे पर्चे, साइक्लोस्टाइल मशीन और कागज की रीमें एक बड़े जूट के बोरे में भर दीं और उसे एक रस्सी के सहारे नीचे खेत में उतार दीं । उस समय पू० गुरुदेव के साथ एक तो उनका सहयोगी और एक बूढा रसोईया, मात्र दो ही व्यक्ति थे । उन्होंने एक मजबूत रस्सी के सहारे उस रसोइये को भी नीचे उतार दिया । रसोइये को उन्होंनें निर्देश दिया कि बोरे को नीचे गढ्ढे में अच्छी प्रकार से गाड़ दे और तब स्वयं ही अपने पैरों के निशान मिटाता हुआ दूसरे गाँव में भाग जाये ।

यह रसोइया जैसे ही बोरे को गाड़कर अपने पदचिन्ह मिटाता हुआ गाँव की ओर भागने को उद्यत हुआ कि पुलिस आ धमकी । पुलिस ने दरवाजा खटखटाना प्रारंभ कर दिया था । पुलिस दरवाजा खुलवाने की त्वरा दिखा रही थी और गुरुदेव रसोइये को थोड़ी दूर चले जाने का अवकाश देने के लिये पुलिस को बातों में उलझाये रखना चाहते थे । अत: उन्होंने छत से ही कड़कती आवाज में कहा- "आप कौन हैं ? आधी रात के समय सोते हुए व्यक्तियों को क्यों तंग कर रहे हैं ?"

छत से पू० गुरुदेव पिछवाड़े से अरहर के खेतों से उस रसोइये को जाता देख रहे थे अत: वे पुलिस वालों से तब तक वार्ता करते रहे, जब तक उस बुढ्ढे का उनकी आँखें अनुसंधान करती रहीं ।

अंत में द्वार तो खोलना ही था । पू० गुरुदेव के साथी के पास धन की सहायता करने वाले दानदाताओं की सूची अवश्य रह गयी थी । गुरुदेव ने उसे संकेत से समझा दिया कि इसे टुकड़े-टुकड़े कर इतना बारीक चूर्ण बना दे जिससे कहीं से भी जोड़कर पुलिस वाले सहायता देने वालों का कोई भी सुराग नहीं पा सके। यदि वह सूची पुलिस के हाथ पड़ जाती तो आर्थिक सहायता देने वाले व्यक्तियों को पुलिस अकारण तंग करती ।

मकान की तलाशी में पुलिस को कुछ भी नहीं मिला, परन्तु उस देशद्रोही जयचंद की गवाही और इकबालिया बयान के आधार पर पुलिस ने पूज्य गुरुदेव पर मुकदमा चला दिया । गया-षडयंत्र काण्ड नामक इस मुकदमें में अंग्रेज जज ने गुरुदेव को पुन: छह मास का कठोर कारावास दे दिया ।

पू० गुरुदेव गया जेल में सूर्यास्त के समय पहुँचे । जिस गया जेल में गुरुदेव लाये गये थे वहां के प्रधान जेलर का नाम मेजर बर्क था । वह आयर्लेण्ड का रहने वाला था । स्वभाव से ही वह अत्यंत क्रूर था । जो भी राजनैतिक बंदी अंग्रेजी शासन के विरुद्ध अधिक सक्रिय होता था, उसके बंदी विवरण पत्र पर वह कुख्यात लिख दिया करता था । इन विशेष कैदियों को वह भीषण यातना दिया करता था । अधिकांश ऐसे कैदियों को तो वह मौत के घाट ही उतार दिया करता था । वह नरपिशाच अपने भारी भरकम शरीर से मिल्ट्री-बूट पहनकर कैदी की छाती पर चढ जाता था और इतनी जोर से हुमचता था कि छाती की हड्डियां तड़-तड़ टूट जातीं । प्राय: कैदी अपने मुख से बल-बल खून उगलता हुआ वहीं अपनी जीवन-लीला समाप्त कर देता था। जेल के रजिस्टर में लिख दिया जाता कि बीमारी से मर गया । इस गलत रिपोर्ट पर विरोध करने का भी उन दिनों किसी में साहस नहीं होता था । परिणाम यह था कि कैदी इसके नाम से ही थर-थर कांपते थे ।

जिस प्रकार क्रूर-कर्मा मेजर बर्क अपनी दानवी पीड़ादायिनी यंत्रणाओं के कारण कुख्यात था, उसी प्रकार पू० गुरुदेव की भी जेल में सर्वत्र अपनी देशभक्ति, आत्मिक तेजस्विता, विलक्षण धैर्यनिष्ठा आदि गुणों के कारण प्रख्याति थी ।

पू० गुरुदेव ने सायंकाल सभी राजनैतिक कैदियों को रामायण सुनाना प्रारंभ कर दिया था । उनका कण्ठ तो अति सुरीला और मधुर था ही । किशोर बालक चक्रधर जब तक रामायण गायन करता, उसकी कोकिलकण्ठी, मधुर स्वरलहरी से सभा भक्तिमय भावों में परम मुग्ध हुई सर्वथा एकाग्रचित्त और शांत हो जाती थी ।

उनके रामायण गायन की ख्याति ज्यों-ज्यों जेल में बढती गयी, जेल के दूसरे वार्डों से भी कैदी एवं वार्डर, सभी लोग रामायण सुनने एकत्रित हो जाते थे । पू० गुरुदेव की लोकप्रियता की बात मेजर वर्क के कानों में भी पड़ी । उसे भला यह कैसे सहन होता कि एक राजनैतिक कैदी इस छोटीसी उम्र में जेल के वार्डरों और सभी कैदियों के मध्य इतना अधिक लोकप्रिय हो जाए तथा धर्मचर्चा के नाम पर लोगों को संगठित करने लगे ।

एक दिवस जैसे ही पू० गुरुदेव ने रामायण सुनाना प्रारंभ किया ही था कि वह महादानव अपनी शक्तिशाली वार्डरों की टोली के साथ वहाँ आ धमका । पू० गुरुदेव लम्बी शिखा तो रखते ही थे । उसने आते ही पू०

गुरुदेव की शिखा पकड़कर बुरी तरह से झकझोर दी । वह इनको शिखा पकड़ कर घसीटता हुआ, जूतों की ठोकर मारता बहुत दूर तक खींचकर ले गया । पू० गुरुदेव ने तनिक भी प्रतिक्रिया नहीं की और एक सच्चे अहिंसक सत्याग्रही की तरह निर्विरोध पिटते रहे । उसने पू० गुरुदेव के हाथों में पकड़ी हुई रामायण की प्रति छीनने की बहुत ही चेष्टा की परन्तु पू० गुरुदेव की रामायण पर पकड़ इतनी मजबूत थी कि वह उसे उनके हाथों से छीन नहीं सका । इस पर क्रोधित हो उसने गुरुदेव को- जो दुबले-पतले हलके शरीर के थे, अपने दोनों हाथों में ऊपर उठा लिया और सभी कैदियों के देखते-देखते उन्हें निर्जीव काष्ठ-पटरी की तरह पंटक दिया । उस दानव में इतनी सी संवेदना भी नहीं थी कि गुरुदेव हाड-मांस की सुकोमल देह हैं । इस घटना से श्रीचक्रधर मिश्र की ख्याति सारे जेल में फैल गयी एवं एकमत से सबकी सहानुभूति इनके ऊपर उमड पड़ी । उसी दिवस से उसने पू० गुरुदेव को फाँसी के कैदियों को रखने की सैल में डाल दिया ।

मेजर ने जेल के कैदियों पर अपनी मर्जी का एक नियम लाद दिया था। वह नियम यह था कि जब भी वह निरीक्षण करने आवे, कैदी अपने हाथ उठाकर दाहिने हाथ की हथेली दाहिने कंधे पर रख लें एवं बायें हाथ की हथेली बायें कंधे पर रख लें । भयाक्रांत हुए सभी कैदी उसके सामने होने पर ऐसा कर ही लेते थे । जो ऐसा नहीं करते उसे वह जेल के वार्डरों से बुरी तरह पिटवाता था । वह इतना दुष्ट था कि दवा के नाम पर कैदी के शरीर पर चेचक का संक्रामक टीका लगवा देता था जिससे उसके सारे शरीर में चेचक के बड़े-बड़े फफोले हो जाते थे । वह इन फफोलों की परवाह किये बिना उस कैदी को पेड़ से बँधवा देता और जेल के शौचालयों में पड़ी विष्ठा भंगियों से कहकर उस पर डलवा देता । कैदी को मक्खियाँ काटतीं और दारुण यंत्रणा से कैदी चीखता हुआ बेहोश हो जाता ।

पू० गुरुदेव को इन सब यातनादायक परिस्थितियों की सूचना जेल के एक बंगाली डाक्टर ने अग्रिम ही दे दी थी । जेल के बंगाली डाक्टर ने उन्हें पूर्व-चेतावनी भी दे दी कि जेलर के आने पर वे अन्य कैदियों की तरह सामान्यतया हाथ ऊपर कर दें, यदि कहीं जिद अथवा अकड से उन्होंने ऐसा नहीं किया तो निश्चय ही वह क्रूर दानव उनकी जान का ग्राहक हो जायेगा और भीषण शारीरिक यंत्रणाऐं मिलेंगी सो अलग । पू० गुरुदेव ने उस डाक्टर को इतना ही संक्षिप्त उत्तर दिया कि मृत्यु तुम्हारे लिये भयावह हो सकती है,

मेरे लिये तो यह मात्र एक तुच्छ खेल है । यह विकट एवं विषम परिस्थिति आखिर पू० गुरुदेव के सम्मुख आ ही गयी । पू० गुरुदेव स्वतंत्र-मति के थे और ऐसे समझौते करना उनकी नैतिकता के विरुद्ध था ।

अब गुरुदेव के पास तो एक ही निर्बल का बल था । वे भगवान् से प्रार्थना करने लगे- "हे प्रभो ! हे दयालु ! हे स्वामी ! आप सर्वसमर्थ हैं । मेरी प्रतिष्ठा की रक्षा आपके सिवा दूसरा कौन कर सकेगा ? हे प्रभो इस असंभव बात को संभव कर दीजिये । नाथ, मेरी इस घोर यंत्रणा से भी रक्षा हो और मेरा आत्मसम्मान भी बना रह जाय।" मेजर बर्क जैसे ही निरीक्षण करने आया तो सभी कैदियों को एक पंक्ति में खड़ा कर दिया गया । मेजर के साथ पाँच-सात वार्डर भी रहते थे । वह दुष्ट इन्हीं वार्डरों से क्रूरतापूर्वक डण्डे चलवाया करता था । जिस तन्हाई की कोटड़ी में पू० गुरुदेव रखे गये थे, उससे अगली दो तन्हाई की कोटड़ियों में रहने वाले कैदियों को यह जेलर कुछ ही दिन पहले मौत के घाट उतार चुका था ।

पू० गुरुदेव के द्वारा हाथ नहीं उठाये जाने के कारण हरक्षण अतिशय काली भयावनी आशंका गहरी होती चली जा रही थी । मेजर बर्क पू० गुरुदेव के सम्मुख लगभग पाँच मिनट तक खड़ा रहा । उनके सामने खड़ा हुआ वह अपने मुख से सीटी बजाये जा रहा था । पू० गुरुदेव पीठ की ओर हाथ पर हाथ दिये खड़े थे । उनके मुख से नाम ध्वनि का तार अनवरत चल रहा था। थोड़ी देर खड़ा रहकर न जाने क्या सोचकर वह आगे बढ गया ।

ज्योंही वह शैतान मेजर आगे बढ़ा, पू० गुरुदेव के मन में भगवान् के प्रति भावनाओं का वेग इतना प्रबल गति से बह चला कि उसे वाणी कह ही नहीं सकती । भगवान हैं, वे प्रार्थना सुनते हैं, वे आर्त्त की रक्षा करते हैं, वे असंभव को संभव बना देते हैं, उनकी दया असीम है- इस प्रकार के भावों के उच्छलन से पू० गुरुदेव का हृदय कृतज्ञता से भर आया था । परन्तु अभी तो आगे आने वाली घटनाऐं बहुत ही गंभीर होने वाली थीं ।

मेजर बर्क पुन: कैदियों के निरीक्षणार्थ आया । सभी कैदी पुन: पंक्तिबद्ध खड़े कर दिये गये । पू० गुरुदेव ने तो इस बार भी उसकी उपेक्षा की और अपने हाथ ऊपर नहीं उठाये ।

इस बार मेजर की क्रूर आँखों में क्रोध की विकराल वक्रता छा गयी । क्रोध की उत्तेजना से उसका चेहरा लाल हो गया । उसने पाँचों वार्डरों को हुक्म दिया, पीटो इस लड़के को । इधर दशा ये थी पाँचों वार्डर इस छोटे से

ब्राह्मण बालक के प्रति भक्ति करने लगे थे । ये इनकी रामायण-कथा में भी सम्मिलित हो चुके थे । इनके तेजस्वी एवं निर्मल अहिंसापूर्ण-सत्याग्रही-स्वभाव ने कुछ सीमा तक इनकी क्रूरता में सात्विक दया के भाव भर दिये थे । जब इन्होंने इस बालक के कुल का, माता-पिता का एवं जन्म स्थान का पता करना चाहा तो इन्हें यह भी पता लग गया था कि यह उनके पार्श्ववर्ती ग्राम फखरपुर का ही निवासी है और इस बालक के पिता इनके भी पुरोहित-गुरु हैं।

अतः जब मेजर द्वारा इन पाँचो को पू० गुरुदेव को पीटने का हुक्म दिया गया तो ये इसे मारने के स्थान पर इसकी बाँह मात्र मेजर के सम्मुख उठ जाय, ऐसी चेष्टा करने लगे । गुरुदेव भी तो अति हठी थे । वार्डरों के प्रयास के बावजूद भी जब गुरुदेव ने अपनी बाँह नहीं ही उठायी तो मेजर बर्क क्रोध में तिलमिला गया । वह स्वयं क्रोध में भरा इन्हें घूँसों से मारने लगा । पू० गुरुदेव तो तत्क्षण ही चक्कर खा कर मूर्च्छित हुए जमीन पर गिर गये ।

परम पूज्य गुरुदेव के कार्ड पर मेजर वर्क ने पहले से ही नोटोरियस (कुख्यात) तो लिखा हुआ ही था, अब एक शब्द 'पनिसमेंट'- 'दंडित किया जाय' और लिख दिया । उसने आदेश जारी कर दिया कि इसे पहनने को टाट दिया जाय । उन दिनों जेल में तीन प्रकार का टाट पहनने को दिया जाता था । प्रथमतः कपास के धागे से बना मोटा कपड़ा, दूसरे पटसन से बना टाट, तीसरे नारियल के रेशे से बना टाट । पू० गुरुदेव को मेजर ने जानकर यह तीसरे किस्म का टाट पहनने को दिया । यह शरीर में एकदम चुभता था । शरीर में बहुत जोर की मार पड़ी थी, अतः शरीर सूज गया था, बड़ी तीव्र वेदना हो रही थी । साथ ही बहुत तेज बुखार हो आया था । केवल ज्वर ही नहीं, चेचक भी निकल आयी थी । गुरुदेव प्रायः नग्न ही रहते । मात्र निम्नांग ढ़कने के लिये ही टाट प्रयोग करते थे, परन्तु चेचक के व्रण तो शरीर में सर्वत्र थे, उसमें यह टाट बहुत ही गड़ता था । कष्ट की सीमा नहीं थी।

एक दिन सहायक जेलर से जो एक मुसलमान था, गुरुदेव ने अपना कष्ट सुनाकर दूसरा कपडा देने की प्रार्थना की तो उसने उन्हें सांत्वना देना तो दूर रहा अपने पान की पीक उनके मुख पर थूक दी । उस तन्हाई की कोटड़ी में नग्न शरीर, ज्वर-पीड़ित, चेचक-ग्रस्त, नारियल की टाट में, पू० गुरुदेव किस प्रकार रात-दिवस काटते थे, यह तो कोई भुक्तभोगी ही जान

सकता है । जेल में पू० गुरुदेव को तीव्र विष दिया गया । यह विष प्रतिदिन ही उनके भोजन में मिला दिया जाता था । विष की प्रतिक्रिया-स्वरूप उनके मुख के भीतर घाव हो गये । उस विष का प्रभाव पू० गुरुदेव यावज्जीवन ढ़ोते गये ।

इस तन्हाई की कोटड़ी में पू० गुरुदेव को रह-रहकर उस महात्मा कुम्हार की याद आ रही थी । वे मन ही मन शंकर, श्याम, राधेश्याम, सीताराम- जो भी भगवान् का नाम जिह्वा में आता, जपते । आर्तस्वर में भगवान् का नाम पुकारना ही उनकी प्रार्थना थी और वही मंत्र-जाप था । उनका हृदय आकुल हुआ, एक ही पुकार कर रहा था कि किसी भी प्रकार मेरे प्राण भी बचें और प्रतिष्ठा भी बच जाय । उसी दिवस पू० गुरुदेव को एक दिव्यानुभव हुआ । उनको अपनी तन्हाई की कोटड़ी से गया का दूरस्थ ब्रह्मयोनि पर्वत दिखाई पड़ता था । उन्हें दिखाई पड़ा कि इस ब्रह्मयोनि पर्वत के शिखर पर लताओं में आच्छादित एक विशाल वृक्ष के नीचे भगवान् शंकर खड़े हुए हैं । उनका हाथ अभय-मुद्रा में उठा हुआ है। वे पूज्य गुरुदेव को स्पष्ट आश्वासन दे रहे हैं- "तुम निश्चिंत रहो, तुम्हारा कुछ नहीं बिगड़ेगा । मैं तुम्हारी रक्षा कर रहा हूँ ।" इससे पू० गुरुदेव को बहुत ही सांत्वना मिली। उसी समय उनके मन में प्रेरणा हुई कि किसी भी प्रकार से मेरा तबादला दूसरी जेल में हो जाय तभी मेरे प्राणों की रक्षा हो सकती है ।

उस गया जेल में एक और सहायक जेलर थे श्रीहरिपद बाबू । वे पू० गुरुदेव के प्रति थोड़ी सहानुभूति रखते थे । श्रीहरिपद बाबू ने ही चेष्टा करके किसी बड़े अधिकारी से कहकर इनका नारियल का टाट बदलवाया और चेचक के मरीज के नाते इन्हें और भी सुविधायें दिलवायीं । और तब भगवत्कृपा के बल से इनका तबादला ही कैम्प जेल में करवा दिया ।

कैम्प जेल में उन दिनों चार-पाँच हजार राजनैतिक कैदी थे । ये सभी श्रीमहात्मा गांधी के नमक-सत्याग्रह में गिरफ्तार हुए थे । इस जेल में भी पू. गुरुदेव पर अनेक विपदायें आयीं । भयंकर लाठीचार्ज हुआ और सैकड़ों सत्याग्रहियों के सिर तरबूजों की तरह फटे । इसके पश्चात् गोलीकाण्ड. तक की नौबत आ गयी । विस्तार-भय से इन सबका वर्णन नहीं कर रहा हूँ । संक्षेप में मात्र इतना ही कहना है कि इन घोर विपत्तियों में पद-पद पर पू० गुरुदेव को भगवत्कृपा के प्रत्यक्ष अनुभव हुए; उससे उनको दृढ़ निश्चय हो गया कि जीवन के एक मात्र सुहृद भगवान् हैं और भविष्य में वे अब अपना

संपूर्ण जीवन भगवद्प्राप्ति एवं उनके भजन में ही समर्पित कर देंगे । उन्होंने अपने जीवन का एकान्तिक लक्ष्य-सर्वसमर्थ भगवान् की आराधना ही बना लिया । उनके विश्वास में यह बात सुदृढ़ता से जम गयी थी कि अकारण-कृपालु, असीम-दयालु एवं असंभव को संभव बना देने वाले भगवान् के समान जीव का सुहृद अन्य कोई नहीं हैं ।

इधर ५ मई, १९३१ को वायसराय इरविन से महात्मा गांधी का समझौता हो गया । गांधीजी ने अपना आंदोलन स्थगित कर दिया और उधर इरविन सरकार ने भी सत्याग्रही नेताओं सहित सभी राजनैतिक बंदियों को बिना शर्त रिहा कर दिया। इस दूसरी बार की जेल यात्रा में पू० गुरुदेव को छः मास के स्थान पर मात्र पाँच मास का ही बंदीजीवन भोगना पड़ा ।

गायिका दुर्गेशनन्दिनी

यद्यपि पू. गुरुदेव कैशोर्य लाँघकर यौवन में प्रवेश कर चुके थे, राजपरिवार से मैत्री के कारण उनका जागतिक भोगविलास की बातों से शाब्दिक परिचय भी हो चुका था, परन्तु उनका मन सर्वत्र, सब स्त्रियों में सदा मातृभाव से ही भक्तियुक्त रहता था । घोर मलिनता के वातावरण में और अतिशय मलिन व्यक्तियों के संग में भी वे अपने चित्त में कैसी निर्मलता संजोये रहते थे, इसका यहाँ एक अनुपम उदाहरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

प्रसंग है फखरपुर के राजासाहब के छोटे भाई के विवाह का । ये छोटे भाईसाहब पू. गुरुदेव के बाल गोठिया साथी थे । राजासाहब का भी आग्रह था कि श्रीमिश्रजी (पू० गुरूदेव) उनकी बारात में सम्मिलित हों । दोनों मित्रों का परस्पर इतना स्नेह था कि इस आग्रह को टालना भी संभव नहीं था । बारात दरभंगा की ओर गयी थी । उन दिनों विहार में यह बुरी प्रथा ही थी कि बारात में वेश्यायें नाच-गान के लिये अवश्य बुलायी जाती थीं । सम्पन्न घरों की बारात में नामी गायिकायें तथा नर्तकियाँ आती थीं। राजासाहब की बारात की मजलिस फिर भला कैसे सूनी रहती ? अतः वाराणसी से दुर्गेशनन्दिनी नामक नामी गायिका को बुलाया गया था । उसे लोग संज्ञा तो वेश्या की देते थे, परन्तु वह मात्र उत्तम गायिका ही थी । पू. गुरुदेव का वेश्याओं के नाच-गान में सम्मिलित होने का तो प्रश्न ही नहीं था । वे इस प्रकार विवाहोत्सवों में व्यर्थ के व्यय के सर्वथा विरोधी थे । देशभक्त

क्रांतिकारियों के हजारों परिवार जहाँ दो जून रोटी भी नहीं जुटा पाते थे, वहाँ इस प्रकार की विलासिता में हजारों रुपयों का अपव्यय हो, उन्हें यह सर्वथा अरुचिकर था, परन्तु वे मात्र मौखिक विरोध ही तो कर सकते थे, इस प्रथा को समूलतः रोकना अथवा अपने मित्र के विवाहोत्सव में यह नहीं होने देना उनके वश की बात नहीं थी । सामाजिक-प्रतिष्ठा अच्छे-भले व्यक्तियों को ऐसा करने में विवश कर देती थी । पू० गुरुदेव ने अपना विरोध प्रकट करने का यही उपाय सोचा कि स्वयं उस मजलिस में सम्मिलित नहीं होंवें। परन्तु दूल्हा भी पूरा हठी था । वह राजपरिवार का अंग था । उसने हुक्म दे दिया कि यदि मिश्रजी न आवें तो चार व्यक्ति उन्हें हाथ पैर बाँधकर ले आवें। उसके इस आग्रह में भी मित्रता-जन्य प्रेम ही प्रधान था। दूल्हे के व्यक्ति पू. गुरुदेव के पास पहुँचे और उन्होने दूल्हेराजा का प्रेमाग्रह मुसकाते हुए प्रकट कर दिया । अब समझदारी इसी में थी कि मजलिस में स्वतः ही सम्मिलित हो जाया जाये । पू. गुरुदेव मजलिस में गये और दुल्हे राजा ने स्वयं खड़े होकर उनका स्वागत किया तथा उन्हें ठीक अपने बगल में बैठाया ।

जब दूल्हेराजा ने इतनी आवभगत की तो गायकों ने स्वाभाविक ही पू० गुरुदेव को अति महत्वपूर्ण व्यक्ति मान लिया । दुर्गेशनन्दिनी गायिका जब मंच पर आयी तो सबसे पहले उसने दुल्हेराजा को अभिवादन किया एवं तत्पश्चात् पू० गुरुदेव को भी सलाम किया, एवं सबसे पहले उन्हीं से पूछा कि खिदमत में कौनसा राग पेश करूँ। उस गायिका के यह पूछते समय पू० गुरुदेव का ध्यान उसके नाम पर चला गया । "ये तो दुर्गेश भगवान् शंकर को नन्दित करने वाली माँ पार्वती हैं ।" वे अब तो इस नामजनित निर्मल-भाव में डूब गये । वे क्या उत्तर देते, उनसे यही कहते बन पड़ा - "माँ ! मैं तो रागरागिनी का कुछ भी ज्ञाता नहीं, जो इन सबको रुचे वही गाओ।" ये शब्द निकलते-निकलते तो पूज्य गुरुदेव का मन और अधिक निर्मलता में डूब गया।

पू. गुरुदेव के निर्मल-भाव ने उस गायिका को भी मातृभाव में सराबोर कर दिया । वह अति विस्मित हो उठी। जिसे सदा हेय नेत्रों से ही सभी ने देखा हो, जिसे भरी सभा में सभी मात्र विलासयंत्र समझ, हेय एवं तुच्छ संबोधनों से ही पुकारा करते हों, उसे कोई दैवीभाव से, भक्तिपूर्ण नेत्रों से 'माँ' कहकर पुकारने वाला भी है ? इस मलिन संसार में उस जैसी सार्वजनिक मनोरंजन कर, माया बटोरने वाली को कोई इतनी विशुद्ध

सात्विक भक्तिभावभरी दृष्टि से देखने वाला भी है ? - इस भाव ने उसके मनको झकझोर कर रख दिया। जब तक वह सभा में रही वह पू० गुरुदेव की ओर विस्मय, पवित्रता एवं वात्सल्य भरे भाव से ही निहारती रही । उसने लगभग चालीस मिनट तक विलास-तोड़ी राग गाया । ऐसा लगता था मानो राग-रागिनी तो उसके कण्ठ में क्रीडा ही करती रहती हैं ।

वास्तव में भावमयी भक्ति-साधना में संगीत का स्थान बहुत ही महत्वपूर्ण है । पू० गुरुदेव ने तो भगवान् शंकर से गायन-कला में नैपुण्य माँगा था । वे कहते थे - सितार का मुझ पर बहुत ही प्रभाव होता था । सितार से करुणा के भाव उनके हृदय में बहुत अधिक संचरित होते थे । पू० गुरुदेव को उस दिवस माता दुर्गेशनन्दिनी के गायन ने भक्तिभाव की गहरी अनुभूति में प्रवेश करा दिया था ।

सेवा-भाव

पूज्य गुरुदेव ने नवीं कक्षा में ही पढ़ाई छोड़कर राजनीतिक कार्यों में रुचि लेनी प्रारंभ कर दी थी । फिर लगभग ग्यारह-बारह माह की दो जेल यात्राएँ हो गयीं, अत: वे अब आगे की पढ़ाई में दत्तचित्त हो गये ।

राजकीय जिला हाइस्कूल, गया के प्रधानाध्यापक श्री विजयकृष्ण सेन एक बंगाली सज्जन थे । पू० गुरुदेव की प्रतिभा से ये इतने प्रभावित थे कि पू० गुरुदेव को अपने घर में ही बच्चे की तरह रखते थे । इस बंगाली परिवार के मध्य रहने से पू० गुरुदेव बहुत भली प्रकार से बँगला भाषा बोल लेते थे। संस्कृत पठन-पाठन तो घर में आनुवंशिकी-परम्परा से था ही। अंग्रेजी भाषा में पू० गुरुदेव का बहुत ही विशेष अध्ययन था । उस पर तो उनका ऐसा असाधारण अधिकार हो गया था कि उनके अंग्रेजी भाषण को सुनकर अंग्रेज कलेक्टर भी आश्चर्य करता था । एक बार इनके गया स्कूल के अध्यापक की धर्मपत्नी का देहान्त हो गया । वे राजयक्ष्मा से ग्रस्त थीं एवं उसी से उनकी मृत्यु हुई थी । गाँव का कोई भी व्यक्ति शव उठाने को तैयार नहीं था। उन दिनों राजयक्ष्मा छूत की असाधारण बीमारी मानी जाती थी । राजयक्ष्मा के रोगी को, अथवा शव को स्पर्श करने मात्र से यक्ष्मा से प्रभावित हो जाने की आशंका तो थी ही । और यह सत्य भी था कि जिसके परिवार में यदि एक भी सदस्य को यक्ष्मा हो जाता तो परिवार का परिवार ही इस रोग से आक्रान्त हो उठता था और मृत्यु के मुख में चला जाता था। परिस्थिति ऐसी विषम थी

कि बहुत विनय करने पर भी कोई शव को स्नान कराने एवं अर्थी बाँधने को तत्पर नहीं था ।

स्कूल के प्रधानाचार्य जी ने अन्ततः युवा बालक चक्रधर को बुलाया । यह पाठशाला के सभी युवा छात्रों का नेता था । उस समय छात्रावास में लगभग तीस-बत्तीस छात्र थे। प्रधानाचार्य जी ने सेवा परायण चक्रधर से सहयोग चाहा । पू० गुरुदेव तुरन्त तत्पर हो गये और उनके तत्पर होते ही अनेक छात्रों में उत्साह जाग गया । फिर तो स्कूल के चपरासी भी सहयोगी हो गये । अर्थी तैयार हो गयी और श्मशान-घाट में भी पहुँच गयी । जब शव को चिता में रखकर आग लगा दी गयी तो एक साधु आया । उसने कहा- "यहाँ शव जलाया जा रहा है अतः मुझे पाँच रुपया दो ।"

पू० गुरुदेव ने कहा - 'भाई ! हम लोग विद्यार्थी हैं, हमारे पास धनमाया नहीं है जो तुम्हें दें, परन्तु वह साधु माना नहीं । पू० गुरुदेव के मित्र बद्रीप्रसाद ने भी उसे समझाने की अति चेष्टा की परन्तु वह तो अपनी जिद पर अड़ा ही रहा । कहते हैं 'बालक बन्दर एक समाना' - सो जब वह माना ही नहीं तो चंचल विद्यार्थी अपनी बालचेष्टाओं पर उतर आये । कोई उसे नंगा ही कर देने पर उतारू हो गया, कोई उसे चिता की ओर ही धकियाने लगा । अब वह साधु गाली देता हुआ चला गया ।

पू० गुरुदेव कहते थे कि किशोरावस्था में सभी युवक ऐसी चंचलता किया करते हैं, वैसी ही चेष्टा श्मशानघाट पर हम लोगों के द्वारा हुई । परन्तु घाट से वापस आने पर मेरे चिन्तन में बहुत ही परिवर्तन आया । इस अभद्रता के लिये मेरी सात्विकता मुझे धिक्कारने लगी । मैं स्वयं ही, स्वयं से प्रश्न करने लगा -"क्या यह उचित हुआ ? क्या मेरा सच्चा जीवन ऐसा होना चाहिये ? क्या उस साधु में भगवत्सत्ता नहीं थी ? चंचलता की पराकाष्ठा पर किसी को तंग करना क्या मेरे जैसे भगवत्साधनापरायण व्यक्ति के लिये शोभनीय है ?" इस क्रिया के पश्चात्तापस्वरूप पू० गुरुदेव के जीवन में एक ऐसी सत्वमयी धारणा बह चली कि भविष्य में फिर ऐसी वृत्ति उदय ही नहीं हुई ।

विचार मन्थन

पू० गुरुदेव स्कूली-विद्याध्ययन कर रहे थे परन्तु उनके भीतर विचारों में अथाह क्रान्ति चल रही थी । दसवीं, ग्यारहवीं और बारहवीं कक्षाओं में पढ़ते

समय पू० गुरुदेव निरन्तर अन्तर्द्वन्द्व की ही अवस्था में रहे । इस विचार-मंथन को वे प्रतिदिन पत्र रूप में भगवान् को लिख-लिखकर व्यक्त किया करते थे । उन्होंने प्रतिदिन जो पत्र भगवान् को लिखे उनमें से कुछ पत्र वे सन्यास लेते समय अपने अग्रज श्रीतारादत्तजी मिश्र को एक पेटी में बन्दकर दे गये थे एवं निर्देश दे गये, कि इसे उनकी मृत्यु के पश्चात् ही खोला जाय । जैसा उन्होंने निर्देश किया था उनके लीलाप्रवेश के पश्चात् वह पेटी खोली गयी और उन पत्रों को यथामति सम्पादित कर श्रीचन्द्रकान्तजी फोगला, पू० पोद्दारमहाराज के दोहित्र ने गीतावाटिका से 'अन्तर्वेदना' नाम देकर पुस्तकाकार प्रकाशित कर दिया है। जो जिज्ञासुभक्त उसे प्राप्त करना चाहें, वहाँ से प्राप्त कर सकते हैं।

यहाँ उनके एक पत्र को उद्धृत किया जा रहा है।

४।१।३४

करुणामय,

किन भावों को लेकर तुम्हारी अर्चना करूँ।
अशांत हृदय में भाव कहाँ ? बहा दो शांति की
धारा मेरे हृदय में। दुःख से कातर हृदय में
शांति का संचार कर दो।

करुणानिधि,

डूब रहा हूँ। किनारा नहीं देख पड़ता।
भगवन् ! तृष्णा के अगम अगाध अर्णव में पड़कर
लहरों के थपेड़ों का सामना कर रहा हूँ। कितनी
देर कर सकूँगा ? भगवन् ! दया करो मेरी हीनावस्था
पर। प्रणतपाल ! अपनी करुणा की कोर को ही नाव
बना दो। और विभो, खेदो किनारे तक। तुम्हारे सिवा
मेरा और कोई नहीं है।
अज्ञान के अंधकर में पड़ा हूँ। तुम्हारी
ज्योति का संचय मैंने आज तक किया
नहीं, पर अधम उधारण, अंत में कातर होकर
आया हूँ, तुम्हारी शरण में। ले लो मुझे चरणों
में।

चक्रधर

पू० गुरुदेव के उन दिनों के भाव जिस प्रकार उन्होने यदा-कदा हम लोगों के सम्मुख व्यक्त किये, उन्हें यथास्मृति प्रामाणिकतापूर्वक देने का प्रयास किया जा रहा है। ये भाव प्रथमपुरुष के रूप में ही दिये जा रहे हैं :-

"मेरी जीवन-समस्या की तो एक ही मीमांसा है - वह है ईश्वर-प्राप्ति । यदि इस जीवन में मैं ईश्वर की प्रत्यक्ष प्राप्ति कर सकूँगा तभी मेरा जीवन अमृत होगा अन्यथा तो वह मात्र एक बोझा है, भार है । किसी भी बात की सत्यता उसकी प्रत्यक्ष उपलब्धि पर ही प्रतिष्ठित है । बिना ईश्वर का प्रत्यक्ष अनुभव किये उसे सत्य कैसे माना जा सकता है । जब तक मेरे स्वयं का वैसा अनुभव नहीं हो, ईश्वर के संबंध में मेरा विश्वास पर्वत के समान दृढ़ कैसे हो पावेगा ।"

"क्या ईश्वर को मैं देख सकता हूँ ? जो भी परम सत्य है, उसका स्वरूप कुछ भी हो, मुझे उसकी प्रत्यक्ष उपलब्धि इसी जीवन में अवश्यमेव करनी है । संसार जितना प्रत्यक्ष प्रतीत होता है, उससे कहीं अधिक प्रत्यक्ष मुझे परमात्मा को करना है । जो-जो विकार मुझे इस सत्य से दूर हटाते हैं, वे मेरे चित्त से आज ही इसी क्षण हट जाने चाहियें। यह कौन शैतान है जो मुझे बार-बार पशु के समान अज्ञानी बनाता है ।"

"यह शरीर मेरा जीवन हो ही नहीं सकता । जीवन तो नित्य है और शरीर, अनित्य । इस शरीर से सनकादि की विद्या भी मुझे मिल जाय फिर भी इसकी मृत्यु तो एक बरसाती फतिंगे की तरह होगी ही । राजाओं का राजा-सम्राट भी एक महानिर्धन की तरह ही मृत्यु को प्राप्त होता है । दुर्बल से दुर्बल जीव एवं स्वस्थ एवं बलबान पहलवान दोनों समान रूप से मृत्यु के ग्रास होंगे ही ।"

प०पू० गुरुदेव ने अपनी संपूर्ण जीवन-शक्ति इसी एक भगवत्प्राप्ति की भावना पर केन्द्रित कर दी । जब कभी भी उन्हें एकान्त मिलता, वे भगवान् से प्रार्थना करने लगते - "हे भगवन् ! जब तुमने कठिनतम परिस्थितियों सें मुझे उबारकर अपना अहैतुकी अपार सौहार्द प्रकट कर दिया तो तुम मुझे दीखते क्यों नहीं ? क्या इस विश्व में तुम्हारे स्वयं के अतिरिक्त कोई भी दूसरा हो सकता है जो मुझे प्रकाश दिखा सके ? हे परमात्मा ! तुम मेरे जीवन में अपने को प्रकट कर दो न ! हे जीवनाधार ! तुम बोलते क्यों नहीं?

तुम इस प्रकार अप्राप्य क्यों हो ? अन्य किसी से मुझे कुछ भी नहीं सीखना, तुम स्वयं ही आकर मुझे जो भी सिखाओगे, वही मुझे सीखना है ।"

"मुझे तो तुम स्वयं ही आकर कुछ सिखाओगे । क्या तुममें जीवत्व नहीं है ? तुम जीवनहीन हो ? तुम बोल नहीं सकते ? इस कलह-क्लेश एवं पक्ष-विपक्ष के संसार में मैं किसका अनुसरण एवं विश्वास करूँ ? यदि तुम दयालु हो, तो तुम तुम्हारे अबोध बच्चे से बोलते क्यो नहीं ? मैं तुम्हारे दर्शन करने को छटपटाता हुआ उत्सुकतापूर्वक तैयार हूँ ।" इस व्यथा में पू० गुरुदेव के रात-दिवस व्यतीत होने लगे । जब एक पूरा दिवस बीत जाता तो वे बिलखने लगते । "हे भगवान् ! आज का भी दिवस व्यर्थ हो गया; फिर भी मुझे आपका ज्ञान नहीं हुआ । इस क्षण-भंगुर छोटे से जीवन का एक अनमोल दिवस व्यतीत हो गया ।" इस वेदना के कारण वे अपना सिर जमीन पर रगड़ डालते । वे बार-बार प्रार्थना करते- "हे प्रभो ! आप शीघ्र प्रकट हो जाओ। मैं आपके लिये किस प्रकार कितना अधिक तड़प रहा हूँ । मुझे आपके सिवा और कुछ नहीं चाहिये ।" उन्हें यह भली प्रकार विदित था कि जब तक भगवान् के लिये जीव का सर्वस्व न्यौछावर नहीं होता, तब तक उनका दर्शन उसे नहीं हो पाता । जिस समय भी समग्र प्राणशक्ति से वे छटपटायेंगे बस उसी समय भगवान् अवश्य प्रकट हो जावेंगे ।

यहाँ उनकी अन्तर्वेदना का जो विवरण है, यह छपी हुई पुस्तक में उल्लिखित नहीं है । यह तो उन्होंने व्यक्तिगतरूप से, जो अपनी उन दिनों की मनोदशा का चित्र खींचा था, बह ही बहुत संक्षिप्त रूप में दिया गया है ।

उनकी पुस्तक जो छपी है उसके पाँच-सात प्रमुख अंश नीचे उद्धृत किये जा रहे हैं ।

यह पत्र दिनांक ११-१-१९३४ का है।

जीवनधन ! पुकार रहा हूँ ! कल भी पुकारूँगा । जब तक प्राण हैं, तब तक पुकारता रहूँगा । सर्वव्यापिन् तुम सुन रहे हो, तुम सुनोगे और मुझे कृतार्थ करोगे । प्राणहीन को सताने से तुम्हें कुछ नहीं मिलेगा । मंगलमय ! तुम्हारा विधान मंगलमय है, मैं तुम्हें किस तरह दोषी कह सकता हूँ । भूलना न प्यारे ।

तुम्हारा ही - चक्रधर

प्राणाधिक ! बहुत दूर नहीं हो । तुम सचमुच निकट हो, परन्तु मैं अधम अभी भी तुम्हें पा नहीं सकता । शरणागतपाल ! शरणागत की रक्षा करो । मंगलमय ! तुम्हारा विधान मंगलमय है, भूलना मत प्रियतम !

तुम्हारा ही – चक्रधर

इस प्रकार .उन दिनों पू० गुरुदेव का जीवन पूर्ण प्रार्थनामय हो रहा था।

गृहस्थ जीवन गत अशान्ति

पू० गुरुदेव अपने परिवार में सबसे छोटे भाई थे । उधर ऐसा प्रचलन था कि सबसे छोटी बहू पर ही सारे घर के कार्य भार का दायित्व हो । अत: अ० सौ माताजी रात्रि-दिवस गृहसेवा में निरत रहतीं । वे लगभग रात्रि के द्वितीय प्रहर में ही शयनगृह में आतीं। इधर पू० गुरुदेव भगवद्विरह में विषादग्रस्त रहते । पू० गुरुदेव उन दिनों अपनी चिन्ता के कारण बहुत कम सोते थे। संसारिकभोगों से सर्वथा उपरत तथा अपने पति को पागलवत् देखकर वे व्याकुल हो जाती थीं । पू० गुरुदेव के गार्हस्थभोगों से सर्वथा उपरत रहने का कारण जेठानियाँ उसकी सेवा एवं प्रेम में कमी ही मानतीं । वे ईर्ष्यावश उसे ताना मारती रहतीं । गृहस्थीकार्य के कोल्हू में दिनभर अविराम पिसती धर्मपत्नी जब अपने पति से दो मीठे बोल सुनने को भी तरस जाती, तो वह और भी दुखी हो जाती ।

पू० गुरुदेव अपनी धर्मपत्नी में जगन्माता का ही रूप देखते, उनके विकारग्रस्त होने का तो प्रश्न ही नहीं था । उनका मन दैवीविचारों में इतना तन्मय रहता था कि उसे मलिन निम्नांगों में रमण की रुचि ही भला कहाँ हो पाती ?

जेठानियों और पड़ोस की गाँव की स्त्रियाँ बिचारी भोली बालिका को जादू-टोना करने की क्रियायें बतातीं । वे व्रत रखतीं, उपवास करतीं, देवी देवताओं की मनौतियां करतीं । यदि किसी भी दिन गुरुदेव में थोड़ा सा भी प्रेम-भाव अथवा अनुकूलता देख लेतीं तो अपने अनुष्ठान व्रत को सफल मानकर प्रसन्न हो जातीं । जेठानियों के बहुत प्रयास के उपरांत तो कभी-कदास गुरुदेव भीतर शयनगृह में शयन करने जाते, अन्यथा तो वे प्राय: बाहर

बरामदे में ही सबके मध्य शयन करते थे । पू० गुरुदेव मात्र गिनती के दिन ही एकान्त में अपनी पत्नी के संग शयन किये होंगे । वह भी मात्र उसके प्रति अपना कर्तव्य समझ कर । इस गृहस्थसंग के फलस्वरूप माताजी का एक गर्भ तो श्रवित ही हो गया और एक मृत बालक हुआ । इससे भी पू० माताजी का मानसिक संतुलन बिगड़ गया।

बिचारी माता-पिता के लाड-प्यार में पली चौदह-पन्द्रह वर्ष की अबोध किशोरी-बालिका अपना दुःख-सुख भी किसके साथ बँटाती । यदि कभी पू० गुरुदेव उस बालिका से वार्ता भी करते तो ऊँचे-ऊँचे ज्ञान की ही बात करते। ऐसी बातें वह सुन तो लेती परन्तु इन बातों से उसका मन धैर्य तो रख नहीं पाता । उसे तो यही समझ में आता कि मेरा सांसारिक जीवन पूर्ण अंधकार भरा ही है ।

पू० गुरुदेव अपनी पत्नी को अपनी स्थिति समझाते - "जब मेरी यह धारणा दृढ़ और संशयहीन है कि इस माया-प्रसार के पीछे एक अविनाशी, अखण्ड, आनन्दमय परमात्मा है, वह इतना घनआनन्द है कि उसके सामने इन्द्रियसुख कुछ भी नहीं, तब उस परमात्मा को किनारे कर मैं गृहस्थकार्यों में कैसे उलझूँ ? जब परमात्मा अपार वैभवमय है तो उसको पाने का प्रयत्न करूँ अथवा खेत खलिहान में चित्त उलझा दूँ ? क्या मैं परमात्मा को प्राप्त करने का अपना प्रयत्न क्षणभर के लिये भी किसी मोह से, भय से, हानि की अपेक्षा से स्थगित कर सकता हूँ ? कदापि नहीं । मुझे तो क्षण भर भी उस दयामय आनन्दनिधि परमात्मा से दूर रहना असह्य है । उसको न पाने की असह्य छटपटाहटवश मैं पागल भले ही हो जाऊँ, परन्तु परमात्मा को पाये बिना मुझे विश्राम कहाँ ?" अब भला उनकी धर्मपत्नी की समस्याओं का इन बातों को सुनने से निदान कहाँ ? वह तो परिवार में होने वाली घटनाओं की अपने पति से निन्दा-स्तुतिपूर्ण व्याख्या करना चाहती थी, वह तो अन्तर से चाहती थी कि पति उसे आश्वस्त करे कि पढ़ाई समाप्त करते ही वह अंग्रजों की तरह कहीं सरकारी नौकरी करेगा, अर्थोपार्जन करेगा और उसे अपने साथ रखेगा । वह सांसारिक स्वप्न देखती थी और गुरुदेव अखण्ड परमात्मगत शांति-आनन्द में डूब जाने के स्वप्न। अब भला दोनो में सामंजस्य कैसे संभव हो पाता ? जब उन्हें मात्र कठोर शासन, गृहकार्य का अथक श्रम, और परिवार के दूसरे सदस्यों से मात्र कटूक्तियों भरे ताने ही मिलते एवं पति की उपेक्षा और पूर्ण विरक्ति, तो वे कलहप्रिय हो गयीं । वे अपनी सास,

जेठानियों एवं अन्य गुरुजनों को- जो भी उस पर आक्षेप करता सेर का ड्योढ़ी उत्तर देतीं । इससे घर में कलह होने लगी । इस गृहकलह से पू० गुरुदेव और विरक्त हो गये । एक दिवस उन्होने सभी से स्पष्ट कर दिया कि कलह का यदि अंत नहीं हुआ तो वे सन्यासी हो जावेंगे । परन्तु संसार के लोग अपना स्वभाव ऐसी घुड़कियों से तो बदलते हैं नहीं । अभिमान का प्रदर्शन ही उनका मुख्य सुख होता है; अत: घर में कलह बढ़ती ही गयी । पू० गुरुदेव के चित्त में दृढ़मूल धारणा हो गयी कि इस दृश्य में उन्हें कहीं कभी भी न तो शांति मिलेगी, न ही कल्याण ।

सन्यास की पूर्व भूमिका

सन् १९३१ ई० में जब दूसरी बार पू० गुरुदेव जेल से बाहर आये तो उनके अग्रज भ्राता उन्हें कलकत्ता ले गये । वहाँ उनका नाम सोहरावर्दी बेगम मेमोरियल स्कूल की नवीं कक्षा में लिखा दिया गया । सन् १९३४ ई० में पू० गुरुदेव ने मेट्रिक परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की । इसके पश्चात् उन्हें रिपन कॉलेज (सुरेन्द्र नाथ महाविद्यालय) की इन्टरमीडियेट (कला) में भरती कराया गया ।

कलकत्ता आने के पूर्व राजनैतिक एवं सामाजिक कार्य करते समय कार्यकर्ताओं के मध्य स्पर्धा,वैमनस्य,आपाधापी,स्वार्थसिद्धि एवं आत्मश्लाघा आदि देखकर पू० गुरुदेव को घोर निराशा मिली थी । कलकत्ता आने के पश्चात् आत्मीय कहलाने वाले स्वजनों के मध्य भी वही सब बातें मिलीं । स्वजन-वर्ग से उन्हें प्रवंचना और प्रतिकूलता अधिक मिली । उन्होने जिन-जिन व्यक्तियों को अपना निकट से निकट माना उन अभिन्नहृदय व्यक्तियों ने भी उनके विश्वास को आघात ही पहुँचाया । पू० गुरुदेव केवल अपने अग्रज बन्धु श्रीदेवीदत्तजी एवं श्रीतारादत्तजी मिश्र तथा दो अन्य जनों के अतिरिक्त सभी से बहुत ही निराश थे । लोगों से मिलने वाली प्रवंचना एवं प्रतिकूलता ने उनके मन को विरक्ति के भावों से भर दिया । यह विरक्ति भावना दिन-प्रतिदिन अधिकाधिक बढ़ती ही चली गयी ।

इधर एक घटना और हुई जिससे उनका हृदय काँप उठा । हाय ! इतना घोर अध:पतन ! ऐसा कठिन कलिकाल ! अपने चारों ओर स्वार्थ परायणता और अनैतिकता की घोर आँधी देखकर पू० गुरुदेव का मन सर्वथा

विरक्त हो गया । एक विधवा स्त्री ने पर-पुरुष की इच्छा को पूर्ण करने के लिये अपने वयस्क पुत्र को विष दे दिया । वह पर पुरुष पहले तो उस विधवा स्त्री से विष दिलाने का आग्रह कर बैठा, फिर उसकी अन्तरात्मा जब उसे बहुत धिक्कारने लगी तो वह यह रहस्य उस बच्चे के सम्मुख खोल बैठा । परन्तु बच्चे ने उसे यही उत्तर दिया कि यदि मेरी जन्मदात्री माता ही मुझे अपने मार्ग में कंटक समझ कर मारना चाहती है, तो फिर मेरे जीवन से ही क्या लाभ ? उसने सहर्ष माँ का दिया विष स्वीकार कर लिया । पू० गुरुदेव को इस घटना से अत्यधिक दु:ख हुआ । वे विचार करने लगे "हाय ! इतना घोर अध:पतन, ऐसा कठिन कलिकाल ! अपने चारों ओर स्वार्थपरायणता और अनैतिकता की प्रबलता को देखकर पू० गुरुदेव का मन जगत् से उचट गया ।

जगत् के इन कटु-प्रसंगों ने ऐसी पृष्ठभूमिका निर्माण कर दिया, जहाँ पू० गुरुदेव के पूर्वजन्म की संचित साधना स्वत: प्रस्फुटित हो उठी । भीतर तो अंगारे की अग्नि धधक रही ही थी मात्र ऊपर ही थोड़ी सी राख आ गयी थी, उस राख को इस प्रतिकूलता की वायु ने उड़ा दिया, अंगार चमक उठा। पू० गुरुदेव अपने हृदय के भावों को लिखकर प्रतिदिन रात्रि को भगवान् को अर्पण किया करते थे । इसके पीछे उनका यही भाव रहता था कि -

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ।।
।। गीता ९/१/२७ ।।

पू० गुरुदेव का पत्रलेखन का कार्य लगभग अढ़ाई वर्ष तक निरन्तर चलता रहा। एक बार ध्यान करके जब पू० गुरुदेव ने पत्र अर्पित किया तो बहुत ही मधुर स्वर में उन्हें अन्तर में गूँजती ध्वनि सुनाई पडी - "तुम सन्यास ले लो । तुम्हारे संपूर्ण दु:खों एवं अशांति का सदा के लिये नितान्त अभाव हो जायेगा ।" यह वाणी लौकिक नहीं थी । उन्होने सन्यास लेने का निश्चय कर लिया ।

पू० गुरुदेव के ताऊ के पुत्र, बड़े भाई थे श्रीदेवदत्तजी मिश्र । ये बहुत ही उदारमना, साधु-पुरुष तथा संस्कृत के उद्भट विद्वान थे । इनके संरक्षण में पू० गुरुदेव ने छहों दर्शन का अध्ययन किया । उपनिषदों के शांकरभाष्य तथा ब्रह्मसूत्र भी इन्हीं के सान्निध्य में पू० गुरुदेव ने पढ़े थे । पू० गुरुदेव

प्राय: गीतोपनिषद् भाष्य का स्वाध्याय करते रहते थे । वे सदा अपने विचारों में ही निमग्न रहते । उनकी मननशीलता बढ़ गयी थी । उनके आचार-विचार, व्यवहार में परिवर्तन आ गया । कभी-कभी श्रीतारादत्तजी मिश्र उनसे इस प्रकार गंभीर रहने का कारण भी पूछते, तो पू० गुरुदेव मात्र मुसका देते , वे अपने मन की असली उथल-पुथल किसी के भी सामने व्यक्त नहीं करते थे ।

श्रीदेवदत्तजी घर में सभी की सुख-सुविधा का ध्यान रखते थे । वे पू० गुरुदेव पर अतिशय वात्सल्य भी रखते थे । वे ही सम्मिलित घर के सभी बालकों की शिक्षा-दीक्षा का प्रबंध करते, आय के साधनों को जुटाते, परिवार में उत्पन्न किसी भी गतिरोध, कलह को सुलझाते एवं विवाह-शादी सभी व्यवहारों का निर्वाह करते थे। पू० गुरुदेव ने सर्वप्रथम सूचना इन्हीं को दी - "भैया ! प्रभु की इच्छा से मैं गृहस्थ जीवन का, संसार का परित्याग करके सन्यास लेने का विचार कर रहा हूँ।"

श्रीदेवीदत्तजी से यह सूचना सहोदर बड़े भाई श्रीतारादत्तजी ने भी सुनी। सन्यास की सूचना भाइयों के लिये वज्रपात ही थी ! दोनों भाई अवाक् हो गये। कुछ देर तक तीनों परस्पर एक दूसरे को देखते हुए चुप थे । अन्तत: श्रीदेवीदत्तजी ने मौन तोड़ा ।

वे कहने लगे - "चक्रधर ! यह तुम क्या पागल की तरह प्रलाप कर रहे हो ? क्या ऐसा सोचना और कहना उचित है ? चित्त को शान्त और स्थिर करो । अभी तुम निरे अबोध बालक हो । तुम्हारी अवस्था सन्यास-धर्म के योग्य नहीं है ।" परन्तु दोनो भाई यह भी अच्छी तरह जानते थे कि चक्रधर यदि एक बार निर्णय कर लेता है तो वह लोहे की लकीर ही होती है । पू० गुरुदेव ने यही उत्तर दिया कि उनका यह अन्तिम निर्णय है ।

पू० गुरुदेव की बात सुनकर भाइयों के हृदय आशंका से भर गये । उन लोगों को ज्ञात था कि चक्रधर कभी अनर्गल बात अपने मुँह से नहीं निकालता है और जो वह कहता है, उसे करके ही रहता है । छोटे भाई चक्रधर के निर्णय की जानकारी होते ही बड़े भाई सोचने लगे कि इस समय इसकी आयु मात्र २२ वर्ष है । ऐसी कच्ची आयु में इसका सन्यास-व्रत कैसे निभ पायेगा ? इसको कैसे समझाया जाये कि मन की वासनाओं का वेग कितना विकट हुआ करता है ? गाँव में घर पर इसकी पत्नी है, माताजी हैं, पिताजी हैं । इस समाचार से उन सभी पर क्या बीतेगी ? अभी तो इसने

अपनी पढाई भी पूरी नहीं की है । सन्यास का निर्णय लेकर चक्रधर ने तो बड़ा ही अविवेकपूर्ण कार्य किया है ।

चचेरे बड़े भाई श्रीदेवदत्तजी ने पुनः बड़े प्यार से समझाते हुए पू० गुरुदेव से कहा - "तुम्हारे लिये सन्यास-धर्म कठिन पड़ेगा । संसार के भोगों की क्षणभंगुरता एवं निरर्थकता का सच्चा अनुभव एक भुक्त भोगी को ही हो पाता है । जिसे ऐसा अनुभव नहीं हो पाता, उसका वैराग्य क्षणिक हुआ करता है । जिसने आवेश में आकर सन्यास ले लिया है, वह भविष्य में काम-क्रोधादि विकारों के वशीभूत होकर यदि अपने पथ से च्युत होता है तो ऐसे पथभ्रष्ट सन्यासी के धर्म और परमार्थ तो सिद्ध होते ही नहीं, उसका लोक भी बिगड़ जाता है। इसीलिये ऋषियों ने यह मर्यादा निर्धारित की है कि मनुष्य को तीन आश्रमों के सोपानों को पार करने के पश्चात् ही सन्यास स्वीकार करना चाहिए । इतना ही नहीं, महज्जनों का यह भी कथन है कि घर पर माता-पिता के जीवित रहते युवक पुत्रको सन्यास नहीं लेना चाहिए।"

सभी ने बहुत प्रयास किये कि पू० गुरुदेव सन्यास के विचार का परित्याग कर दें, किन्तु सभी के सारे प्रयास व्यर्थ गये । पू० गुरुदेव का निश्चय अडिग था । स्वजन, स्नेहियों अथवा मित्रों की ओर से जब-जब ममत्व, भय, प्रलोभन, दबाव अथवा सुझाव के रूप में जो-जो भावलहरियाँ आती थीं, पू० गुरुदेव के लोहे के लट्ठ जैसे निर्णय से टकराकर बिखर जाती थीं ।

बड़े भाई तारादत्त जी ने देखा कि पू० गुरुदेव अपने निश्चय पर अटल हैं तो उन्होने घर पर पू० माताजी-पिताजी को उनके सन्यास लेने की सूचना भेज दी । गांव के लोग इस समाचार से व्यथित होने स्वाभाविक ही थे । सूचना मिलने पर माता-पिता कलकत्ता आने को तैयार हो गये । माता-पिता कलकत्ता आने वाले हैं, यह जानकारी होते ही पू० गुरुदेव ने उन्हे आने से मना करवा दिया ।

पू० गुरुदेव का इतना ही कहना था कि यदि आप लोग बाधा देंगे तो फिर मैं बिना सूचना दिये लापता हो जाऊँगा, अन्यथा मुझसे सम्बन्धित सभी जानकारियाँ आप लोगों को समय-समय पर मिलती रहेंगीं ।

श्रीतारादत्तजी ने 'आध तजहिं बुध सरबस जाता' की नीति का अनुसरण करते हुए माता-पिता को कलकत्ते न आने के लिये गाँव पर लिख दिया । पत्र मिलने पर माता-पिता को अपना हृदय वज्र की तरह कठोर बनाना पड़ा।

उनके हृदय की सारी कोमलता कराह रही थी, परन्तु वे निरुपाय थे । विवश होकर उन्होने कलकत्ते जाने का विचार स्थगित कर दिया ।

सन्यास ग्रहण

वैराग्य में कितना आनन्द है, इसे वही पुरुष जान सकता है, जिसके हृदय में प्रभु के पादपद्मों में प्रीति की सच्ची इच्छा उत्पन्न हो गयी हो । जिसे संसारी विषयभोग काटने के लिये दौड़ते हों, वही वैराग्य में महान् सुख का अनुभव कर सकता है । जिसकी इन्द्रियां सदा विषय-भोगों की ही इच्छा करती रहतीं हो, जिसका मन सदा संसारी पदार्थो का ही चिन्तन करता रहता हो, वह भला वैराग्य के सुख को समझ ही कैसे सकता है ?

श्री मद्भागवत में कहा गया है -

देहेऽस्थिमांसरुधिरेऽभिमति त्यजत्वं
जायात्सुतादिषु सदा ममतां विमुंच ।
पश्यानिशं जगदिदं क्षणभंगनिष्ठं
वैराग्यरागरसिको भव भक्तिनिष्ठः ।।

"अस्थि, मांस और रुधिर आदि पदार्थों से बने हुए इस शरीर के प्रति अहंता त्याग दें, स्त्री-पुत्र तथा कुटुम्ब-परिवारवालों में ममता नहीं रखें, इस क्षण-भंगुर संसार की वास्तविक स्थिति को समझते हुए वैराग्य से प्रेम करने वाले बनकर सदा भक्ति-निष्ठ हुए जीवन बितावें ।"

उस दिवस शारदीय पूर्णिमा थी । यह ही वह भाग्यवान् दिवस था जब पू० गुरुदेव ने सन्यास दीक्षा ली थी ।

सन्यास का अर्थ है - अग्निस्वरूप जीवन । पिछले जीवन का सब कुछ ज्ञानाग्नि में जलाकर स्वयं अग्निस्वरूप हो जाना - यही इस महान् व्रत का आदर्श है । संसार की सर्वथा उपेक्षा करके जीवमात्र में मैत्रीभाव रखे । संपूर्ण संसारी सम्बन्धों एवं परिग्रहों का परित्याग करके भगवन्निष्ठ हुआ वैराग्य-राग-रसिक होवे । सत्वगुणस्वरूप स्वच्छ वस्त्रों को भी परित्याग कर तीनों गुणों से ऊपर उठ त्रिगुणातीत हुआ एक मात्र परमात्मा में सदा स्थिर

रहे । 'नारायण' के अतिरिक्त किसी अन्य को देखे ही नहीं । सन्यासी का कौन सा नाम ? वह तो नाम-रूप से रहित हो जाता है ।

पू० गुरुदेव ने सन्यास दीक्षा लेने के लिये अपने अग्रज भ्राताओं को राजी कर ही लिया था । जिस प्रकार नवागत वधू से मिलने के लिये अनुरागी युवक बेचैनी के साथ रात्रि होने की प्रतीक्षा करता है, उसी प्रकार पू० गुरुदेव सन्यासधर्म में दीक्षित होने के लिये चतुर्दशी-तिथि की रात्रि के अन्त होने की प्रतीक्षा करते रहे ।

उस रात्रि में पू० गुरुदेव को निद्रा सर्वथा नहीं आयी । ध्यान एवं ब्रह्मविचार में ही उन्होने रात्रि गुजार दी ! इतने में ही पक्षियों ने अपने कोमल कण्ठों से भांति-भांति के स्वरों में गायन आरम्भ कर दिया । अरुणोदय से पूर्व ही नित्यकर्म से निवृत्त हो पू० गुरुदेव भगवती गंगा के तट पर सन्यास ग्रहण करने की प्रक्रिया को सम्पन्न करने के लिये चले गये । पू० गुरुदेव ने जो सन्यास दीक्षा ली, उसके साक्षी भगवान् शंकर थे । प्रातः सूर्योदय के पश्चात् पू० गुरुदेव अपने अग्रजों के पास उनके वास-स्थान में लौट आये । केश-मुंडन के लिये वहीं नापित को बुलाया गया । उससे केश-मुंडन को कहा गया । पहले तो उस नापित ने आना-कानी की परन्तु जब उसे दृढ स्वरूप में कहा गया तो उसे केश-मुंडन करना ही पडा । दोनों अग्रज वहीं खड़े-खड़े अपने पुत्र-समान अनुज का शीश-मुंडन देख रहे थे । वे बलपूर्वक अपने अश्रुओं को रोके थे । उनके अन्तर में व्यथा की सीमा नहीं थी । केशों का मुंडन होते ही पू० गुरुदेव ध्यानस्थ हो गये । अभी स्नान शेष था, परन्तु बाह्यसुधि होने पर ही तो वह संभव हो पाता । बड़े भाइयों के मन की दशा विचित्र थी । छोटा भाई अब सन्यासी बनने जा रहा है, यह सोचकर विकलता कम नहीं थी, परन्तु ध्यान की गहरी स्थिति देखकर विस्मयान्विति एवं सुखानुभूति भी कम नहीं थी । सुखानुभूति चाहे जितनी हो, विकलता का वेग बड़ा प्रबल था ।

थोड़ी देर बाद पू० गुरुदेव को बाह्यज्ञान हुआ । यज्ञोपवीत सूत्र का परित्याग तो सन्यास की प्रक्रिया के समय ही हो गया था, शीश-मुंडन के समय शिखा-सूत्र से रहित देखकर बड़े भाइयों के अनुराग भरे नेत्र बार-बार आर्द्र हो रहे थे । इसके बाद पू० गुरुदेव ने स्नान किया । बड़े भाई ने अपने हाथ से गैरिक वस्त्र दिये । पू० गुरुदेव के कहने पर बड़े भाई ही दो-तीन दिन पहले बाजार से वस्त्र ले आये थे । इन वस्त्रों को एक दिन पहले स्वयं पू०

गुरूदेव ने अपने हाथों से गैरिक रंग में रँगे थे । जब बड़े भाई द्वारा प्रदत्त गैरिक वस्त्र पू० गुरुदेव धारण कर रहे थे, उस समय बड़े भाई, चचेरे भाई तथा अन्य उपस्थित जनों का हृदय फटा जा रहा था । उनके नेत्र विकल हो रहे थे और स्वर रुद्ध था, सभी विवश थे और इस करुण दृश्य के मूक दर्शक बने हुए थे। सन्यास लेने के बाद पू० गुरुदेव का नाम हुआ 'मधुसूदनानन्द', किन्तु यह नाम प्रचलित नहीं हो पाया । लोग उन्हें स्वामी श्रीचक्रधर महाराज ही कहते रहे और भविष्य में वे श्रीराधाबाबा के नाम से विख्यात हुए ।

सन्यास लेते ही पू० गुरुदेव ने एक बड़ा ही कठोर व्रत यह ले लिया कि अब जीवन में स्त्री-स्पर्श व द्रव्य-स्पर्श होगा ही नहीं । अवश्य, जन्म-दात्री माँ इसका अपवाद रहीं ।

सन्यासधर्म के अनुसार सन्यासी को एक बार अपने माता-पिता के पास जाना चाहिए अतः सन्यास लेने के बाद वे अपने गाँव गये ।

माता-पिता को सन्यासी पुत्र के दर्शन

यस्यास्ति वैष्णवः पुत्रः पुत्रिणी साभिधीयते ।
अवैष्णवपुत्रशता जननी शूकरीसमा ।।

"जिसका पुत्र भगवद्भक्त है, असल में वही माता पुत्रिणी कहलाने योग्य है । अवैष्णव विषयी सैकडों पुत्रों को जनने वाली माता क्यों न हों, वह तो शूकरी के समान है ।"

उन श्रीमिश्र-दंपत्ति के सौभाग्य की सराहना करने की सामर्थ्य भला किस पुरुष में हो सकती है, जिसके गर्भ से संसार-त्यागी, विरागी, सन्यासी महापुरुष उत्पन्न हुआ । जगन्माता अधिकारीदेवी की कोख ही मातृ-कोख कही जा सकती है । माताओं की इस संसार में कुछ कमी नहीं है, उनका गाँव से गाँव में भी कोई नाम नहीं जानता परन्तु पू० गुरुदेव को जन्म देकर श्रीमती अधिकारीदेवी जगज्जननी बन गयीं एवं श्रीमहीपाल मिश्र जगत्पिता ।

जिसकी वृद्धावस्था का सहारा, प्राणों से भी अधिक प्यारा, सबसे छोटा पुत्र घर में सन्तानहीन युवती स्त्री को सदा के लिये छोड़कर सन्यासी हो गया हो, उस माता का हृदय फटे बिना कैसे रह सकता है ?

मातृस्नेह बहुत ही अद्‌भुत होता है । मदालसा आदि तो अपवाद हैं । देवकी, यशोदा, कौशल्या, देवहूति आदि सभी अवतार-जननी माताओं को भी पुत्र-वियोग से बिलखना पड़ा है । इन सभी ने अपने करुण क्रन्दन से स्वाभाविक और सहज मातृस्नेह का परिचय देते हुए अपने सर्वसमर्थ अवतारी पुत्रों के लिये आँसू बहाये थे।

"घायल की गति घायल जाने, और न जाने कोय" पू० गुरुदेव के माता-पिता तो उसी समय फखरपुर ग्राम से कलकत्ता जाने को प्रस्तुत थे, जब उन्हें पुत्र के सन्यासी होने की सूचना मिली थी । माता अधिकारी ने न केवल नौ मास चक्रधर को गर्भ में ही रखा था, उसे नौ वर्षो तक अपने स्तनों का दूध भी पिलाया था । अपने पुत्र के सद्‌गुण देख-देखकर वह सदा गर्ववती होती थी । परिवार अथवा ग्राम के लोग जब उसके पुत्र की सराहना करते थे तो वह आनन्द सिन्धु में डूब जाया करती थी । परन्तु अब वही अपार सुख-सिन्धु, बन गया वेदना का अथाह सागर । माँ के चार पुत्र थे, परन्तु किसी के भी पुत्र सन्तान नहीं थी । माँ को नितान्त खिन्नता थी वंश-परम्परा की समाप्ति देखकर । वंश-वेलि के विस्तार की आशा माता-पिता ने चक्रधर पर ही टिका रखी थी, पर अब तो उस आशा का आधार ही समाप्त हो गया । इससे तो कुलोच्छेदन ही हो बैठा । हाय चक्रधर ! तू यह क्या कर बैठा रे । ऐसी ही महाव्यथापूर्ण दशा थी पिता की। माँ तो आँसू बहाकर अपना दुःख प्रकट कर लेती थी, पिता तो बाह्य आँसू भी नहीं टपका पाते थे ।

माता-पिता को सबसे अधिक कष्ट दे रही थी, पुत्रवधू की चिन्ता । वह तो अभी निरी अबोध ग्रामीण बालिका ही थी। यौवन की देहरी पर अभी उसके चरण पड़े ही नहीं थे और अब उसे असमय में ही विरक्ति एवं विवेक की, तप और त्याग की शिक्षा देनी पड़ेगी ? हाय विधाता ! तूने यह क्या कर दिया ? न जाने कैसे उस हटीले का सन्यास-धर्म निभ पायेगा और न जाने कैसे इस सरला की लम्बी आयु कट पायेगी ? माँ का हृदय व्यथा से इतना व्यथित था कि दुःख के तीव्रावेग में उसका पूजा-पाठ ही छूट गया ।

और सबसे अधिक करुण स्थिति थी फखरपुर ग्राम की उस तपस्विनी की, जिसे अनुराग के आरम्भ में ही वैराग्य अंगीकार करना पड़ा । पति ने जब सन्यास ले लिया तो अब श्रृंगार से, सुवास से, स्वाद से क्या प्रयोजन रह गया? यशोधरा और विष्णुप्रिया के दर्दभरे अश्रु एक बार फखरपुर ग्राम में अवतरित

हो उठे । रोने और रुलाने के लिये । उस तपस्विनी के जीवन में अब यशोधरा और विष्णुप्रिया की अश्रु-गाथा ही तो रह गयी थी। पहले वह मन-ही-मन अपने सुहाग के गीत गाया करती थी । जिसका पति सुन्दर हो, स्वस्थ हो, सुशील हो, सुकण्ठ हो, सुविज्ञ हो, वह अपने सिन्दूर के गीत क्यों नहीं गाये ? उसकी मान्यता थी कि न जाने कितने जन्मों के संचित पुण्यों की राशि एक साथ उदित हो उठी थी, जो ऐसे पति की जीवनसंगिनी बनने का सौभाग्य मिला । उसका सौभाग्य अवश्य ही अन्यों के लिये प्रशंसनीय बन गया था । पर अब ? उसकी स्थिति थी । 'जथा पंख बिनु खग अति दीना ।' अब वह पंख कटे पक्षी की भाँति स्वयं को अति असहाय अनुभव कर रही थी । जो कल तक उसके सौभाग्य की सराहना करती थीं, अब वे सहानुभूति प्रदर्शित कर रही थीं उसे सान्त्वना देने का प्रयास करती थीं । कोई कितना ही कहे और समझाये, अब आँसुओं की धारा ही उसके एकान्त की सहेली थी; ऐसा लगता था मानो नवद्वीप की उस विष्णुप्रिया का रुदन ही इस तपस्विनी के प्रकोष्ठ में उतर आया हो । रुदन का सागर केवल उतर ही नहीं आया था, वह रह-रह कर के उभर रहा था, उमड़ रहा था ।

क्या माँ, क्या पिता, क्या वह तपस्विनी और क्या अन्य जन, सभी लोग पू० गुरुदेव के दर्शन के लिय तरस रहे थे और पू० गुरुदेव अपने ग्राम आये। जिस समय वे अपने ग्राम फखरपुर पहुँचे, उस समय थोड़ी रात बीत चुकी थी। वे माता-पिता के दर्शनों के लिये मकान के भीतर गये और जाकर आँगन में खड़े हो गये । उनके आने का समाचार सुनते ही माँ दौड़ी हुई आई और अपने युवक सन्यासी पुत्र को हृदय से लगाकर रोने लगी । अपनी अजस्र अश्रुधारा से वह उनके गेरुवे कपड़ों को भिगो रही थी । सन्यासी पुत्र और विह्वला माता के भावार्द्र मिलन का वह दृश्य कैसा था, इसका वर्णन कौन कर सकता है ?

अति अनुराग अम्ब उर लाये । नयन स्नेह सलिलन अन्हवाए ।
तेहि अवसर कर हरष विषादू । किमि कवि कहे मूक जिमि स्वादू ।।

माँ का रुदन कम हो ही नहीं रहा था । पू० गुरुदेव ने अपने वचनामृत से माँ को शान्त करने की चेष्टा की, पर वह रुदन तो उत्तरोत्तर बढ़ता ही जा रहा था । बहुत सान्त्वना देने पर रुदन तो थोड़ा कम हो गया, परन्तु

हिचकियाँ एवं सिसकियाँ पूर्ववत् थीं । माँ कुछ बोलना चाह रही थी, पर बोल नहीं पा रही थी । रह-रह करके अपने सन्यासी-पुत्र के सिर पर हाथ फेर रही थी । हाथ कभी सिर पर और कभी पीठ पर फिरता ही रहा । माँ ने बोलने की चेष्टा की, पर फिर वाणी अवरुद्ध हो गयी । रुक-रुक करके माँ कहने लगी - "बेटा ! तुमने यह क्या किया ? तुम्हारा यह वेष ? क्या सचमुच तुमने मुझको छोड़ दिया ?"

इतना कहते-कहते फिर रुदन का प्रवाह बह पड़ा, नहीं-नहीं फट पड़ा। अपनी माँ के चरणों में सिर रखकर पू० गुरुदेव ने सान्त्वना दी और बोले - "माँ तुम इतना अधीर, इतना विकल क्यों हो रही हो ? तुम घबड़ाओ नहीं । मैं तो तुम्हारा बेटा था, अभी भी ज्यों-का-त्यों हूँ। सन्यासी का बाना लेने से मैं तुम्हारे लिये बदल गया क्या ? सर्वथा नहीं । मैं तो सदा तुम्हारा ऋणी था, हूँ और रहूँगा । तुम्हारे ऋण से मुक्त होना मेरे लिये संभव नहीं । मैं तुम्हारे लिये वही हूँ, जो पहले था । तुम मेरे लिये तनिक भी चिन्ता मत करो। तुम विश्वास करो, मुझे किसी प्रकार का भी कष्ट नहीं होगा । मैं वचन देता हूँ कि मैं जहाँ भी रहूँगा, तुम्हें पता रहेगा और तुम्हारी मृत्यु के समय मैं तुम्हारे पास रहूँगा । तुम मुझे आशीर्वाद दो कि जिस महान् उद्देश्य के लिये मैंने यह वेष लिया है, वह सफल हो ।"

इस प्रकार पू० गुरुदेव बहुत देर तक माँ को सान्त्वना देते रहे, धीरज बँधाते रहे । पुत्र के आने का समाचार सुनकर पिताजी के धैर्य का बाँध भी टूट गया था और वे अपने कमरे में बैठे-बैठे अश्रु-मोचन कर रहे थे । उनका रुदन सुनकर पू० गुरुदेव तुरन्त पिताजी के पास गये और उनके चरणों में मस्तक रखकर प्रणाम किया । पिताजी के नेत्रों की दृष्टि क्षीण हो गई थी । उन्होंने अपने सन्यासी-पुत्र को उठाकर गले से लगा लिया और माँ की भाँति सिसकते हुए बोलने लगे - "बेटा ! तुमने यह क्या किया ? अपने बूढ़े पिता को क्यों छोड़ दिया ? प्रभु ने तुम-जैसा सुयोग्य पुत्र मुझको दिया । तुमको देख-देखकर मुझे विचित्र सुख का अनुभव हुआ करता था । तुम्हारे बारे में मैंने न जाने क्या-क्या सोच रखा था, पर आज वह सब सदा के लिये अंधेरे में छिप गया । तुमने सन्यास क्या लिया, मेरा सहारा छूट गया, टूट गया ।"

पू० गुरुदेव ने पिताजी को सान्त्वना दी - "आप इतने कातर क्यों हो रहे हैं, क्या मैं आपका पुत्र नहीं रहा ? मैं कहीं भी रहूँ, आपका पुत्र ही

कहलाऊँगा और मेरी सफलता आपके सुयश को ही बढ़ायेगी । आपके वात्सल्य ने ही मुझे पाल-पोसकर इतना बड़ा किया है और आपका आशीर्वाद ही सारे विघ्नों का निवारण करके मुझे सफलता प्रदान करेगा । आप आशीर्वाद दें, जिससे उस महान् उद्देश्य की सिद्धि हो ।"

पिताजी को सान्त्वना देकर पू० गुरुदेव पुन: मकान के आँगन में आ गये और आ गया ध्यान उन्हें उस तपस्विनी का भी । वह तो दूसरे कमरे में बैठी अपने अश्रुओं से आँचल को भिगो रही थी । वह दुखिया अब केवल अश्रुओं से ही अपने कपोलों को, अपने आँचल को भिगो सकती थी । व्यथा के अभिव्यक्त हो जाने का एक मात्र यही माध्यम रह गया था । अधरों से बोलकर कुछ व्यक्त करने का अधिकार अब उसके पास कहाँ रहा ? माता और पिता ने बोलकर अपने दुखोद्‌गार सन्यासी-पुत्र के सामने व्यक्त कर दिये, भले वह अभिव्यक्ति रुद्ध वाणी में हुई हो, परन्तु उन दुखाद्‌गारों की येनकेन-प्रकारेण अभिव्यक्ति तो हो ही गयी । माता-पिता को कुछ कहने का अवसर मिल गया था । परन्तु नियति की वक्रताने उससे तो भावों की अभिव्यक्ति का भी सारा अधिकार छीन लिया था ।

इस तपस्विनी के भाग्य की काली रेखायें बड़ी ही क्रूर थीं । पहले जो अपने जीवन धन के समक्ष मन का सबकुछ रख सकती थी, कह सकती थी, अब उसी के अधर सर्वथा विजड़ित हो चुके थे । वाम विधाता ने दृश्य ऐसा परिवर्तित कर दिया कि संभाषण तो दूर रहा, वह अब सामने भी नहीं आ सकती थी । आँगन में खड़े-खड़े पू० गुरुदेव ने उस तपस्विनी के लिये सन्देश कहलाया - "अब उनके साथ भाई-बहिन का ही संबंध रहेगा । पूर्वाश्रम की बात बदल गयी । रात बीत गयी; अरुणोदय की नवीन बेला में संबंध के नवीन स्वरूप को सहर्ष स्वीकार कर लेना चाहिए । यदि उन्हें वांछित हो तो उनके पढ़ने-लिखने की व्यवस्था किसी के द्वारा करवायी जा सकती है, जिससे भविष्य में जीवन भारस्वरूप न अपने लिये रहे और न दूसरों को लगे ।"

उस तपस्विनी ने सन्देश सुन लिया । जब सन्यास का समाचार मिला था, तब भी वह मौन थी, सन्यासी-वेष में देखकर भी वह मौन ही रही और सन्देश को सुन लेने के पश्चात् भी उसे मौन ही रहना था । उसके दोनों अधर ऐसे मूक हुए कि फिर खुले ही नहीं । श्रीमैथिलिशरण गुप्त के शब्दों में -

हा ! स्वामी !! कहना था कितना, कह न सकी, कर्मों का दोष ।
पर जिसमें सन्तोष तुम्हें है, मुझे उसी में है सन्तोष ।।

उस तपस्विनी के मन में बार-बार ये ही भाव उठ रहे थे - "आपके पावन चरणों की सतत स्मृति ही मेरे जीवन का आधार है । और उन युगलचरणों पर सतत अश्रु-अर्पण ही मेरे अर्चन का स्वरूप है ।"

पू० गुरुदेव थोड़ी देर बाद आँगन से घर के बाहर आ गये । वे ग्राम में दो तीन दिवस रहे, परन्तु गृह में नहीं ठहरे । गृह के बाहर ही उनका निवास रहा । पू०.गुरुदेव जितने दिवस ग्राम में रहे उनकी पू० माता अपने सन्यासी-पुत्र के पास ही रहीं । बस, शौच-स्नान के लिये ही उसे विलग होना पड़ता था । अपने पुत्र के स्नान के लिये जल भी वे स्वयं ही रखती थीं । प्रातःकाल शौच से निवृत्त होकर पू० गुरुदेव स्नान करने वाले थे, उसी समय पू० माताजी ने पू० गुरुदेव के शरीर पर ढ़ेरसारा सरसों का (कडुआ तेल)तेल लगा दिया । बचपन में पू० गुरुदेव स्नान के पूर्व अपने सिर पर कडुआ तेल लगाया करते थे । सन्यासी के लिये तेल लगाना उचित नहीं, परन्तु पू० गुरुदेव उस समय कुछ भी बोले नहीं । माताजी ने बस एक बार ही तेल लगाया । पू० गुरुदेव के मौन से वह समझ गयी कि जिस प्रकार सन्यासी के लिये घर में प्रवेश उचित नहीं, उसी प्रकार तेल का प्रयोग भी उचित नहीं । माँ ने वह तेल तो वात्सल्यवशात् लगाया था ।

माँ अपने हाथ से पू० गुरुदेव को भोजन कराती थी । एक बार पास बैठी हुई माँ से पू० गुरुदेव ने पूछा - "मैने ऐसा सुना है कि तूने पूजा-पाठ ही छोड़ दिया है ।"

भोली तथा वत्सला माँ ने सहज रीति से कहा - "वह भगवान् भी भला कैसा है, जो मेरे होनहार बेटे को मुझसे पृथक् कर दे । मेरा तो उस भगवान् पर से विश्वास ही उठ गया है । पू० गुरुदेव ने फिर पूछा - "तुम तो पहले बहुत पूजा-पाठ करती थी । पूजा-पाठ किये बिना कुछ खाती भी नहीं थी, तेरे नियम बड़े कठोर थे । क्या सचमुच ही तुमने वे सभी नियम छोड़ दिये ?" माँ ने बताया - "बस केवल दो माला जप करती हूँ ।"

तब पू० गुरुदेव ने पूछा - "जब तेरा विश्वास उस भगवान पर रहा ही नहीं, तब तू फिर इन दो मालाओं का भी जप क्यों करती है ?" माँ ने उसी सरल रीति से उत्तर दिया - "एक माला तो इसलिये कि संभव है भगवान् हों,

एवं यदि भगवान् हों तो एक माला उनके लिये जपती हूँ और दूसरी माला तेरे लिये । तुमने बड़ी कच्ची आयु में सन्यास ले लिया । भगवान् से प्रार्थना करती हूँ कि मेरे बेटे का धर्म निभा देना । कहीं मेरी कोख में कलंक नहीं लग जावे ।

माँ के मुख से इतना सुनना था कि पू० गुरुदेव के नेत्रों से अश्रु की धारा बह चली । पू० गुरुदेव ने तुरन्त अपनी माँ से कहा - "तू विश्वास रख, तेरी कोख को कभी कलंक नहीं लगेगा । यह मैं किसी ऐसी अचिन्त्य शक्ति के बल पर कह रहा हूँ जो मेरे जीवन का संचालन कर रही है। इसके अतिरिक्त तेरा वात्सल्य भी तो मेरे लिये रक्षाकवच का कार्य करेगा । तू सच मान तेरी कोख कलंकित नहीं, अपितु उसकी कीर्ति अधिकाधिक उज्ज्वल ही होगी । अत्यधिक छलछलाते प्यार में भरकर माँ अपने सन्यासी-बेटे के सिर पर हाथ फेरने लगी । दो-तीन दिन पश्चात् पू० गुरुदेव ने अपने ग्राम से विदाई ली । घरवालों की तो बात ही क्या, आसपास के गाँव के लोग भी जुट आये । सबका मन व्यथा के भार से बोझिल था । सबकी आँखों में आँसू थे। अनेक तो सिसक रहे थे । चलते-चलते भरी भीड़ में पू० माँ ने अपने पुत्र को खिलाया । ग्राम से विदा होकर पू० गुरुदेव कलकत्ते आ गये ।

सन्यासोपरान्त स्कूली शिक्षा

पू० गुरुदेव ने सं० १९९२ वि० की आश्विन मासवाली शारदीय रासपूर्णिमा (शनिवार, १२ अक्टूबर, १९३५) के दिन सन्यास लिया था । तब पू० गुरुदेव कलकत्ते में इंटरमीडियेट के द्वितीय वर्ष में पढ़ते थे । काषाय वस्त्र धारण करने के उपरान्त पू० गुरुदेव ने अपने बड़े भाइयों से कहा था - "इंटरमीडियेट की शिक्षा में डेढ़ वर्ष तक आपने मुझ पर बहुत व्यय किया है। इस व्यय को निरर्थक करना उचित नहीं लगता, अत: मैं इंटरमीडियेट की पढ़ाई को पूरा करके परीक्षा दूँगा, जिससे आप लोगों के मन की संतुष्टि हो सके । इस छ:-सात मास की पढ़ाई के बाद जागतिक विषयों से सम्बन्धित मेरा अध्ययन समाप्त हो जायेगा । आप सभी लोग मुझे आशीर्वाद दीजिए कि जिस आध्यात्मिक-विद्यार्जन के लिये इस सन्यासी वेष को धारण किया है, वह मुझे प्राप्त हो।"

गाँव से वापस कलकत्ता आने के बाद पू० गुरुदेव अपनी साधना और स्वाध्याय में तल्लीन हो गये । आध्यात्मिक ग्रन्थों के स्वाध्याय में ही उनकी रुचि रहा करती थी । पू० गुरुदेव पाठ्यक्रम की पुस्तकें बहुत कम पढ़ा करते थे। परीक्षा के जब एक-दो मास रह गये, तब उन्होंने परीक्षा देने की दृष्टि से उन पुस्तकों को पढ़ना आरम्भ किया था । इस थोड़े से पठन-पाठन के द्वारा ही उन्हें पूर्ण सफलता मिली । उन्होंने इंटरमीडियेट की परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की । यह पठन-पाठन तो पू० गुरुदेव ने किया था, केवल अपने बड़े भाइयों की प्रसन्नता के लिये । इस पठन-पाठन की अवधि में समय-समय पर बड़े भाइयों ने कई बार पू० गुरुदेव से कहा कि तुम आगे भी पढ़ो और अधिक योग्यता का सम्पादन करो, किन्तु इसके लिये पू० गुरुदेव कभी भी राजी नहीं हुए। पू० गुरुदेव की प्रतिभा से महाविद्यालय के अध्यापकगण भी बहुत प्रभावित थे। उनमें से कई अध्यापकों ने ऊँची पढ़ाई करने के लिये सुझाव दिया और व्ययभार वहन का आश्वासन दिया, पर ये सभी सुझाव पू० गुरुदेव को स्वीकार नहीं थे। जब-जब ऐसा सुझाव आता, पू० गुरुदेव यही कहते- 'अब तो दूसरी ही पढ़ाई पढ़नी है।' इंटरमीडियेट की परीक्षा देने तक पू० गुरुदेव अपने बड़े भाइयों के साथ रहे । वे कक्षा में पढ़ने के लिये उस सन्यासी-वेष में ही जाते । उनके सन्यासी-वेष को देखकर सहपाठी चुटकी लेते, किन्तु अब तो वेष-परिवर्तन के साथ-साथ पू० गुरुदेव के बोलने-मिलने-रहने-चलने का सारा ढंग ही बदल चुका था । पू० गुरुदेव सबको संयमित वाणी में उत्तर देते हुए सबका समाधान करते अथवा मौन रहते।

पू० गुरुदेव का सन्यास लोगों के लिये आश्चर्य और चर्चा का विषय बना हुआ था। एक बार पू० गुरुदेव कलकत्ते शहर में सड़क से जा रहे थे। पू० गुरुदेव को पता नहीं कि उनके पीछे-पीछे कलकत्ता विश्वविद्यालय के एक प्राध्यापक चले आ रहे हैं। उन प्राध्यापक-महोदय ने गैरिक वस्त्रों में भी अनुमान लगा लिया कि यह संभवत: वही चक्रधर मिश्र नाम का छात्र है, जिसकी छाप कालेज के विद्यार्थियों पर है। वे चाह रहे थे कि इससे बात करूँ। पू० गुरुदेव कालेज-स्क्वायर नामक स्थान पर आकर एक बैंच पर बैठ गये। पू० गुरुदेव बैठे ही थे कि वे प्राध्यापक-महोदय सामने आकर खड़े हो गये। पू० गुरुदेव ने पहचान लिया कि ये अर्थशास्त्र-विभाग के अध्यक्ष हैं।

उन्हें सामने देखकर पू० गुरुदेव तुरन्त खड़े हो गये तथा उनसे बैंच पर बैठने के लिये अनुरोध करने लगे। प्राध्यापक-महोदय ने कहा- 'आप ही बैठें।'

पू० गुरुदेव ने कहा - 'यह कैसे हो सकता है कि मैं बैठा रहूँ और आप खड़े रहें ?'

प्राध्यापक-महोदय ने कहा- 'आपने गैरिक-वस्त्र धारण कर लिया है, अतः धर्म-मर्यादा के अनुसार मेरा खड़ा रहना ही उचित है।'

इतना कहकर उन्होंने फिर पूछा - 'मेरा अनुमान सही है कि आप ही चक्रधर मिश्र नामक विद्यार्थी हैं।

पू० गुरुदेव ने उनके कथन का अनुमोदन किया । वात्सल्य की अधिकता में उनके नेत्र सजल हो उठे । फिर स्नेह भरी वाणी में उन्होंने कहा - "मैं लगभग एक मील से आपके पीछे-पीछे चला आ रहा हूँ। आपको सन्यासी-वेष में देखकर मेरे मन में एक जिज्ञासा उत्पन्न हो गयी । इतनी छोटी उम्र में आपने सन्यास क्यों ले लिया ?" उनके प्रश्न का उत्तर देना पू० गुरुदेव के लिये कठिन हो गया । यह संभव नहीं था कि जीवन के समस्त उतार-चढ़ाव का वर्णन संक्षेप रूप में कुछ क्षणों के भीतर प्रस्तुत कर दिया जाता । उस असमंजस की स्थिति में पू० गुरुदेव ने इतना ही कहा - "जगत् में कुछ सार दिखायी नहीं दिया, अतः जगत् से अतीत परमतत्व की प्राप्ति के लिये सन्यास ले लिया।" यह उत्तर सुनकर वत्सलतापूर्ण विभोर वाणी में वे पू० गुरुदेव को आशीर्वाद देने लगे - "मेरे वत्स ! तेरा मंगल हो और तेरे उद्देश्य की सिद्धि हो।"

इस प्रकार का हार्दिक सद्भाव एवं सहज आशीर्वाद पू० गुरुदेव को समय-समय पर सभी महज्जनों से मिलता रहा ।

एक दिवस पू० गुरुदेव के बड़े भाई तारादत्तजी ने पूछा - "भविष्य में तुम्हारे भोजन की क्या व्यवस्था होगी ?" पू० गुरुदेव ने कहा - "भिक्षा द्वारा जो मिल जायेगा, उसी से शरीर का निर्वाह होगा। यदि कभी भिक्षा नहीं मिली तो श्रीमल्लिकजी के यहाँ कंगालों को भात दिया जाता है, उसी भात से भूख का निवारण करूँगा।" यह सुनकर बड़े भाई की आँखें भर आयीं । वे कहने लगे - "घर पर खेत है, जमीन है । यदि तुम स्वीकार करो तो तुम्हारे नाम कर दें, इससे शरीर-निर्वाह की समस्या ही नहीं रहेगी।" पू० गुरुदेव ने कहा - "यदि यही करना होता तो फिर यह काषाय वस्त्र क्यों धारण करता ?"

इन्टरमीडियट की परीक्षा देने तक पू० गुरुदेव अपने बड़े भाइयों के पास रहे। परीक्षाफल क्या होगा, इससे उनका कोई लगाव नहीं था, परीक्षा देनी थी सो दे दी।

श्रीमद्भगवद्गीता पर निष्ठा

पू० गुरुदेव ने संस्कृत का अध्ययन कलकत्ते में रहते समय अपने बड़े भाई से किया । ब्राह्मण-कुल एवं पुरोहिती-वृत्ति के कारण परिवार में संस्कृत का वातावरण था ही, फिर एक ओर बड़े भाई का कुशल-अध्यापन और दूसरी ओर पू० गुरुदेव की प्रखर-ग्राहकता, इससे पू० गुरुदेव शीघ्र ही संस्कृत में निष्णात हो गये।

पू० गुरुदेव ने श्रीमद्भगवद्गीता की अनेक टीकाओं का व्याख्याओं सहित पठन-मनन-चिन्तन किया, किन्तु उनकी ज्ञान-सम्पन्न-बौद्धिकता तथा प्रतिभा-सम्पन्न-तार्किकता को प्रभावित एवं आकर्षित कर सका- शांकरभाष्य ही। श्रीमद्भगवद्गीता के शांकरभाष्य का अध्ययन करते-करते पू० गुरुदेव शंकरमतावलम्बी हो गये। भगवान् श्रीआदिशंकराचार्यजी ने अपने अद्वैत तत्व का प्रतिपादन करने के लिये श्रीमद्भगवद्गीता के अतिरिक्त ब्रह्मसूत्र तथा मुख्य उपनिषदों का भी भाष्य लिखा है । इन भाष्यों के अध्ययन का परिणाम यह हुआ कि पू० गुरुदेव की निष्ठा वेदान्त-दर्शन के प्रति दृढ़ हो गयी । भारत के छः आस्तिक-दर्शनों में से एक वेदान्त-दर्शन भी है । वेदान्त-दर्शन के मर्म तक पहुँचने के लिये पू० गुरुदेव ने छः आस्तिक-दर्शनों का विस्तृत रूप से अध्ययन किया । वस्तुतः सन्यासोपरान्त छः मास का विद्यार्थी-जीवन उनका विशेष अध्ययन का काल ही रहा और इस अवधि में श्रीमद्भगवद्गीता तथा उपनिषदों के अतिरिक्त शांकरसाहित्य, आध्यात्मिक ग्रन्थ तथा हिन्दू दर्शनों का पू० गुरुदेव ने विशद अध्ययन किया । अध्ययन जितना गहन होता गया, पू० गुरुदेव की अद्वैत-तत्व के प्रति निष्ठा उतनी ही अधिक गहरी होती चली गयी।

इसी निष्ठा को लेकर पू० गुरुदेव ने अद्वैत-तत्व की साधना के लिये नितान्त ऐकान्तिक जीवन अंगीकार किया। ऐसा लगता है कि पूर्वजन्म में उनकी साधना लगभग पूर्ण हो चुकी थी । एक झीना-सा आवरण रह गया था। साधना के आसन पर बैठते ही वह आवरण दूर हो गया । वेदान्त-दर्शन

का मूलाधार सिद्धान्त है- **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म, नेह नानास्ति किंचन'** और इस तत्व के दिव्य, सच्चिदानन्दमय प्रकाश से पू० गुरुदेव के भीतर-बाहर का सारा जीवन आलोकित हो उठा।

शांकरमत के अनुसार परब्रह्म एक, अद्वैत, निर्विशेष और निर्गुण है। ब्रह्म सत्य है एवं जगत् मिथ्या । जीव ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। साधन चतुष्टय के द्वारा जब चित्त की शुद्धि होती है, तब ब्रह्मज्ञान होता है। ब्रह्मात्म-बोध ही मुक्ति है । मुक्तात्मा ही व्यावहारिक क्षेत्र में सभी प्राणियों के प्रति ब्रह्मदृष्टि रख पाता है । इस ब्रह्मदृष्टि की सिद्धि के लिये पू० गुरुदेव को साधना के आसन पर लम्बी अवधि के लिये बैठना नहीं पड़ा । साधना में संलग्न होने के कुछ दिन बाद ही पू० गुरुदेव ब्रह्मभाव में प्रतिष्ठित हो गये । अखण्ड-ब्रह्मानुभूति में निमग्न पू० गुरुदेव के लिये जगत् का अस्तित्व समाप्त हो गया । पू० गुरुदेव के व्यक्तित्व में अब रह गयी थी 'अहं ब्रह्मास्मि' की परमानन्दमयी अनुभूति । अद्वैत-तत्व की साधना पू० गुरुदेव ने बहुत थोड़े समय के लिये की । एक ओर साधना की अत्यल्प अवधि और दूसरी ओर साधना में सफलता, ये तथ्य ही संकेत करते हैं कि पूर्वजन्म की साधना की पूर्णता में कहने भर के लिये किञ्चित् न्यूनता रह गयी थी और उसे पूर्णता प्रदान करने के लिये वर्तमान साधना एक निमित्त-मात्र थी । इतना ही नहीं, इस छोटी आयु में इतना विशद अध्ययन और ऐसी महान् सिद्धि, इससे भी एक संकेत मिलता था कि पू० गुरुदेव के जीवन में कोई विशेष महान् कार्य होने वाला था।

इन दिनों पू० गुरुदेव के परमानन्द की सीमा नहीं थी । श्रीमद्भगवद्गीता में आया है -

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ।। श्रीगीता-१३/१७

वह परब्रह्म ज्योतियों की भी ज्योति एवं माया से अत्यन्त परे कहा जाता है । वह बोधस्वरूप, जानने के योग्य एवं तत्वज्ञान से प्राप्त करने योग्य है और सबके हृदय में विशेषरूप से स्थित है ।

योऽन्तः सुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्म भूतोऽधिगच्छति ।। श्रीगीता - ५/२४

जो पुरुष आत्मा में ही सुखी है, आत्मा में ही रमण करता है तथा जो आत्मा में ही ज्ञानवान् है, वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा के साथ एकीभाव को प्राप्त, 'मैं ही ब्रह्म हूँ' इस प्रकार अनुभव करने वाला ज्ञानयोगी शान्तब्रह्म को प्राप्त होता है।

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते।। श्रीगीता - ५/२१

बाहर के विषयों में आसक्तिरहित अन्तःकरणवाला साधक आत्मा में स्थित- जो ध्यानजनित सात्विक-आनन्द है, उसको प्राप्त होता है, तदनन्तर वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म के ध्यानरूप योग में अभिन्न भाव से स्थित पुरुष अक्षय आनन्द का अनुभव करता है ।

शास्त्रों की मर्यादा के अनुसार, 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार के अनुभव से सच्चिदानन्दघनब्रह्म में एकीभाव से स्थित प्रसन्न चित्त सन्त सम्पूर्ण जागतिक द्वन्द्वों से अतीत हो जाता है । उसे जगत् स्वप्नवत् प्रतीत होता है । उसके अन्तःकरण में अहंता-ममता, राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि विकार नहीं रह जाते। पू० गुरुदेव के जीवन को देखकर यही कहना चाहिए कि ये शास्त्रीय मान्यतायें पूर्णतः यथार्थ ही हैं ।

जिस प्रकार अनुकूल परिस्थिति में न्यूनता का बोध नहीं हो पाता, उसी प्रकार प्रतिकूल परिस्थिति में भी न्यूनता का बोध नहीं हो, तभी उस सिद्धस्थिति को ब्राह्मीस्थिति कहना चाहिए अतः वास्तविकता का परिज्ञान प्राप्त करने के लिये पू० गुरुदेव ने प्रतिकूल परिस्थिति को स्वेच्छा से वरण किया । पू० गुरुदेव के मन में आया कि कुष्ठरोग से ग्रस्त कोढ़ी, समाज में अत्यधिक उपेक्षणीय होते हैं । इनमें भी जिन्हें गलित कुष्ठ होता है, उनसे तो कोई संपर्क ही रखना नहीं चाहता । एक प्रकार से वे घृणा के पात्र बन जाते हैं । लोगों द्वारा तिरस्कृत इन उपेक्षणीय , अस्पृश्य कोढ़ियों के बीच रहने पर भी हृदयस्थ परमानन्द में न्यूनता न आये और जगत् में सभी प्राणियों के प्रति

दृष्टि सम रहे, तब साधना में प्राप्त सफलता को विश्वसनीय कहा जा सकता है।

समाज की दया पर निर्भर रहने वाले न जाने कितने कोढ़ी कलकत्ते में गंगाजी को जाने वाले मार्ग पर पड़े रहते थे। गंगास्नान के लिये जाने वाले धर्मात्मा एक दो पैसा फुटपाथ पर पड़े हुए कोढ़ियों के सामने डाल देते थे, वही उनके जीवन का आधार होता था। पू० गुरुदेव इन्हीं कोढ़ियों के बीच बैठने लगे । पू० गुरुदेव प्रातःकाल आकर उनके पास बैठ जाते और संध्या के समय उठते । धर्मात्मा लोग जैसे अन्य कोढ़ियों के सामने पैसा डालते, वैसे ही पू० गुरुदेव के सामने भी डाल देते। गुरुदेव को द्रव्य स्पर्श करना नहीं था, पू० गुरुदेव जब संध्याकाल में उठते तो पासवाले कोढ़ी को पैसा उठाने को कह देते । इससे वह कोढ़ी बड़ा प्रसन्न होता। प्रत्येक दिन पू० गुरुदेव ऐसा ही करते। इससे अब हर कोढ़ी यही चाहता कि पू० गुरुदेव मेरे पास बैठें, जिससे इनको मिला हुआ सारा पैसा मुझे मिल जाये, पर पू० गुरुदेव बैठते उस गलित कोढ़ी के पास, जिसकी शारीरिक दशा बड़ी शोचनीय होती ।

कोढ़ियों के मध्य पू० गुरुदेव एक-दो सप्ताह बैठे होंगे और बैठने का प्रयोजन था- परीक्षण करना कि मेरे अन्दर विषमता का अभाव हुआ अथवा नहीं । सुख-दुःख , मम-पर, प्रिय-अप्रिय, लाभ-हानि- यही तो द्वन्द्वात्मक जगत् का स्वरूप है और यथार्थ ब्रह्म-वेत्ता सन्यासी वही है, जिसकी दृष्टि दोनों सीमाओं के प्रति सम है और जिसका मन सभी परिस्थितियों में शांत एवं प्रसन्न है । कोढ़ियों के बीच रहने पर भी पू० गुरुदेव के हृदय में ब्रह्मानन्द का सागर हिलोरें लेता रहता था ।

क्रान्तिकारी परिवारों के लिये गीता प्रवचन

पू० गुरुदेव के एक स्वजन थे, श्रीभवानीशंकरजी । इनमें देश-सेवा का भाव बहुत ही प्रबल था। देश के गण्यमान्य क्रांतिसेवियों से इनका अति निकट का संपर्क था । अनेक क्रान्तिकारी फाँसी के फन्दों को चूमचूमकर मृत्यु के ग्रास हो चुके थे । अनेक पुलिस एवं फौज द्वारा गोलियों से भून दिये गये थे, अनेक जेल की चार-दीवारों के भीतर घोर यातनाएँ भोग रहे थे । बहुत से गिरफ्तारी के वारन्ट के कारण फरार थे, बहुत से सरकारी कोप के भाजन होने के कारण कुछ भी अर्थोपार्जन नहीं कर पा रहे थे। बहुत से देश-सेवा

के उत्साह में घर-गृहस्थी से सम्बन्ध विच्छिन्न करके अपनी योजनाओं की पूर्ति में रत थे। इन सभी देशभक्तों के परिवारों की बहुत ही शोचनीय दशा थी ।

समाज के अन्य लोगों की तो बात ही नहीं, इनसे सगे सम्बन्धी भी मुँह फेर चुके होते थे । यदि किसी को पुलिस पकड़ ले जाती तो लोग यही कहते- "अच्छा हुआ, समाज का कलंक चला गया।" ऐसी अवस्था में इनके परिवारों के भरण-पोषण के लिये अर्थ-दान करने की तो सोचना ही मूर्खता थी। ये रोटी-कपड़े के लिए तरसते थे- इनकी विपन्नता का नग्नचित्र श्रीभवानीशंकरजी ने पू० गुरुदेव के सम्मुख रखा । कुछ तो उन्होंने बतलाया और कुछ की जानकारी पू० गुरुदेव को स्वयं थी । पू० गुरुदेव का करुणार्द्र-हृदय सुन-सुन करके द्रवित हो उठा ।

अब प्रश्न यह था कि इन संत्रस्त परिवारों की सहायता किस प्रकार की जाये ? इनकी सहायता के लिये धन कहाँ से प्राप्त हो ? श्रीभवानीशंकरजी का सुझाव था कि पू० गुरुदेव में शास्त्र-ज्ञान, प्रवचन करने की सुन्दर शैली, विषय-प्रतिपादन की रोचक कला, एवं मधुर कण्ठ आदि सभी श्लाघ्य गुण हैं । वे ग्राम-ग्राम भ्रमण कर कथा कहें और चढावे से विपत्तिग्रस्त-परिवारों की सेवा करें, तो बात बन सकती है ।

अध्यात्मचर्चा को बेचना और कथा द्वारा द्रव्य संग्रह करना यह तो कल्पना भी पू० गुरुदेव के लिये असह्य थी। परन्तु श्रीभवानीशंकर भी पूरे पीछे पड़ गये और पू० गुरुदेव द्वारा स्वयं पैसे का सर्वथा स्पर्श न करने की शर्त के साथ उन्होंनें उन्हें मना ही लिया।

श्रीभवानीशंकरजी के साथ ग्राम-ग्राम यात्रा करते हुए पू० श्री गुरुदेव ने श्रीमद्भगवद्गीता पर कथा कहनी आरम्भ कर दी । कई ग्रामों में पू० गुरुदेव का श्रीमद्भगवद्गीता पर प्रवचन हुआ । पू० गुरुदेव तो ग्राम के बाहर किसी मन्दिर अथवा एकान्त-शान्त स्थान पर ठहरा करते थे, केवल कथा कहने के लिये ग्राम के भीतर जाया करते थे । पू० गुरुदेव की भिक्षा के लिये श्रीभवानीशंकरजी ग्राम से कच्चा अन्न माँगकर ले आते और जहाँ ठहरे होते, वहीं रन्धन करते । पू० गुरुदेव को भिक्षा कराके ही वे स्वयं भोजन करते ।

सबसे पहली कथा हुई पहाड़पुर ग्राम में, जो कलकत्ता जाने वाले मार्ग में बंगाल-बिहार की सीमा पर था । पू० गुरुदेव की वक्तृत्व-शक्ति अद्भुत थी। कथा में लोगों की बड़ी भीड़ एकत्रित हो गयी श्रोताओं के विशाल समूह को

देखकर श्रीभवानीशंकरजी बड़े प्रसन्न हुए कि चढ़ावे के रूप में पुष्कल धन प्राप्त होगा । पू० गुरुदेव के प्रवचन से प्रभावित होकर ग्रामवाले चढ़ावे की बात सोचने भी लगे थे, पर पू० गुरुदेव ने अपने प्रवचन में कहा - "मैं न तो पैसे को स्पर्श करता हूँ और न इस चढ़ावे से मेरा कोई संबंध है । कथा के अन्त में जो चढ़ावा आयेगा, उसे मेरे साथ रहने वाले पंडित श्रीभवानीशंकरजी ले लेंगे । मैं इतना अवश्य कह सकता हूँ कि चढ़ावे से इकट्ठे होने वाले धन का उपयोग ये निश्चय ही श्रेष्ठ सेवाकार्य में करेंगे।"

कथा से प्रभावित श्रोतागणों में चढ़ावा देने का उत्साह तो बहुत था, परन्तु पू० गुरुदेव की स्पष्टवादिता से वह उत्साह मन्द पड़ गया। इस प्रकार चढ़ावा बहुत कम रूप में हुआ। चढ़ावा देखकर श्रीभवानीशंकरजी को बड़ी निराशा हुई। एक ग्राम में कथा केवल कुछ दिन होती । फिर पू० गुरुदेव और श्रीभवानीशंकरजी किसी अन्य अनिश्चित ग्राम की ओर बढ़ जाते । इस प्रकार कथा का क्रम चलता रहा । यह कथा मुख्यत: उन ग्रामों में हुई, जो पटना से कलकत्ते तक श्रीगंगाजी के तटवर्ती थे । श्रीमद्भगवद्गीता पर जो प्रवचन स्थान-स्थान पर पू० गुरुदेव द्वारा हुए, उससे श्रीभवानीशंकरजी के उद्देश्य की सिद्धि नहीं हो पायी, परन्तु एक लाभ उन्हें हुआ । श्रीगीताजी की सुन्दर कथा और पू० गुरुदेव की आदर्श जीवनचर्या से श्रीभवानीशंकरजी की जीवन धारा में परिवर्तन अवश्य आया।

पू० गुरुदेव ग्राम-ग्राम भ्रमण करते हुए प्रवचन दिया करते थे। एक घटना से उनकी ख्याति बहुत बढ़ गई । एक बार पू० गुरुदेव ग्राम के बाहर एक मन्दिर में ठहरे हुए थे । रात के समय एक स्त्री ने उनके पैर पकड़ लिये । वह बहुत ही दयनीय कण्ठ से रो रही थी । उसके भाई को हैजा हो गया था । वह उसका जीवन-दान माँग रही थी ।

सन्यास-ग्रहण के पश्चात् पू० गुरुदेव का कठोर नियम था- किसी भी नारी का किसी भी अवस्था में स्पर्श नहीं करना । मन्दिर के कुछ व्यक्तियों ने उसे समझाने की चेष्टा की कि सन्यासी के पैर नहीं पकड़े, दूर रहकर उनसे प्रार्थना करे। परन्तु वह सुनती ही नहीं थी । वह पू० गुरुदेव के पैर कठोरतापूर्वक पकड़कर रोये ही जा रही थी ।

जब उसने पैर छोड़े ही नहीं तो पू० गुरुदेव ने सोचा- रौद्र रूप धारण करने से ही बात बनेगी । अत: उन्होने बहुत ही तेज स्वर बनाकर कहा -

"आज अपने भाई के लिये इतना रो रही है, कल तेरा ही प्राणान्त हो जाय तो ?"

पू० गुरुदेव की क्षुब्धता देखकर वह स्त्री पीछे हट गयी । संयोगवश दूसरे ही दिन उस स्त्री की भी हैजे से मृत्यु हो गयी । इससे लोगों पर यह प्रभाव पड़ा कि स्वामीजी भविष्य के गर्भ की बात जानते हैं । पू० गुरुदेव को उस स्त्री के भविष्य का सर्वथा ज्ञान नहीं था। वे तो एक सामान्य दार्शनिक-संभावना का ही दिग्दर्शन करा रहे थे, इसे लोगों ने उनकी भविष्यवाणी मानली और सर्वत्र उनकी प्रसिद्धि फैला दी ।

बस में पुलिस दारोगा का दुर्व्यवहार

जब पू० गुरुदेव स्थान-स्थान पर श्रीमद्भगवद्गीता पर प्रवचन दिया करते थे - तबकी बात है । एक बार वे बस में बैठकर जा रहे थे । उन्हें १८ मील की यात्रा तय करनी थी । ड्राइवर अच्छे स्वभाव का व्यक्ति था, अत: उसने सन्यासी पर आदर-श्रद्धा करते हुए उन्हें आगे वाली सीट पर बैठा लिया था । बस जब चलने को हुई तो एक पुलिस अधिकारी आया और अगली सीट पर पू० गुरुदेव के बगल में बैठ गया । उन दिनों पुलिस अफसर का रौब इतना अधिक होता था कि उनके सामने किसी को कुछ भी बोलने का साहस नहीं होता था ।

अब जब बस चल पड़ी तो वह अधिकारी पू० गुरुदेव को कुहनी मारने लगा । जहाँ तक संभव था पू० गुरुदेव ड्राइवर की तरफ सरक गये, पुलिस अधिकारी के पास बैठने को पर्याप्त स्थान भी था, परन्तु सुविधापूर्वक स्थान बैठने के लिये मिल जाने पर भी वह रह-रहकर कुहनी मारता ही जाता था । पिछली सीट पर बैठे लोगों को उसकी यह क्रिया सर्वथा अनुचित लग रही थी, परन्तु वे उसके विरोध में बोलने का साहस नहीं जुटा पा रहे थे । पुलिस अधिकारी का अत्याचार इतना बढ़ गया कि पू० गुरुदेव यात्रा की पूर्णता के लिए अधीर हो उठे

आगे चलकर एक स्थान बस पर रुकी । वह पुलिस अधिकारी जलपान करने के लिये बस से नीचे उतरा । संयोग की बात, बस में पुन: चढ़कर ज्यों ही उस दुष्ट पुलिस अधिकारी ने बस का फाटक बन्द किया तो फाटक में उसकी अँगुली चिथ गयी । उस पुलिस अधिकारी की चीख निकल गयी ।

पू० गुरुदेव ने तुरन्त फाटक खोलकर उसकी अँगुली बाहर निकाली । अँगुली का बुरा हाल था। पू० गुरुदेव ने तत्काल अपने गेरुए वस्त्र का छोर फाड़कर, उसको कमंडलु के जल से भिगोकर उसकी अँगुली पर पट्टी की एवं कहा - कि अगले ग्राम में जिला बोर्ड डिस्पेंसरी है, वहाँ आप डाक्टर को दिखाकर ठीक से पट्टी करवालें।

पू० गुरुदेव का साधु-व्यवहार देखकर उस पुलिस अधिकारी में भी परिवर्तन हो आया।

हिंसक व्याघ्र से भेंट

एकान्त प्रियता के कारण पू० गुरुदेव सदा ग्राम के बाहर ही निर्जन स्थान में निवास किया करते थे । वे प्रातः अकेले ही घने जंगल में शौच के लिये जाया करते थे । ग्रामवासियों ने सावधान करते हुए यद्यपि अनेक बार कहा - "जंगल में भालू-तेंदुए-बाघ आदि हिंसक पशु रहते हैं, अतः अकेले नहीं जाना चाहिए । हम लोग भी जाते हैं तो समुदाय में ढोल पीटते हुए जाया करते हैं।"

लोगों के द्वारा अनुरोध किये जाने के बाद भी पू० गुरूदेव अकेले ही वन में जाया करते थे । जनसंपर्क एवं जगच्चर्चा पू० बाबा को रुचिकर नहीं थी। एक बार की बात है, जिस ग्राम में पू० गुरुदेव गये थे, उसके समीप के जंगल में एक झरना था । वन की निर्जनता और जल का प्रवाह, दौनो ही पू० गुरुदेव को स्वभावतः प्रिय थे । अपने प्रातःकालीन शौचादि कार्य से निवृत्त होने के लिये पू० गुरुदेव वहीं जाया करते थे । पू० गुरुदेव शौच के लिये बैठे ही होंगे कि बाघ के शरीर की तीव्र दुर्गन्ध आने लगी । पू० गुरुदेव को उस समय अनुमान हो गया कि आस-पास कोई बाघ है । पू० गुरूदेव के मन में तुरन्त यही आया, बाघ इस शरीर को अपना भोजन बनाना चाहता है तो बना ले । मै शरीर तो हूँ नहीं । जो भवितव्य है, मैं उसमें व्यवधान क्यों डालूँ । शरीर को रहना हो तो रहे और जाना हो तो जाये । दोनो के प्रति मेरी दृष्टि सम है ।

उस विकट परिस्थिति में भी **'ब्रह्म सत्य है, जगत मिथ्या है और जीव ब्रह्म है'**, इस शांकर-सिद्धान्त से पूज्य गुरुदेव का मन एकाकार हो रहा था । यह अद्वैत-तत्व पू० गुरुदेव के चित्तरूपी स्वच्छ दर्पण में पूर्णतः प्रतिबिम्बित

था । इधर पू० गुरुदेव अपने तत्व चिन्तन में तल्लीन हो गये और उधर वह तीव्र दुर्गन्ध क्रमशः कम होने लग गयी । क्रमशः क्षीण होती हुई दुर्गन्ध से पू० गुरुदेव ने अनुमान लगा लिया कि बाघ चला जा चुका है । बाघ से पू० गुरुदेव का आमना-सामना नहीं हुआ, किन्तु शरीर के अस्तित्व की दृष्टि से एक बार भयावह स्थिति पू० गुरुदेव के सामने उपस्थित हो ही गयी थी । वास्तविक आत्म-निरीक्षण एवं कसौटी के सच्चे अवसर होते हैं, जीवन के विषम क्षण ही। वस्तुतः प्रतिकूलता के मध्य ही सही-सही परिज्ञान हो पाता है कि जीवन के संस्कार और उसकी संरचना स्वीकृत सिद्धान्तों के अनुसार हो रही है अथवा नहीं।

हठयोग से शरीर कष्ट एवं प्राकृति चिकित्सा से लाभ

ग्राम-ग्राम भ्रमण करते समय पू० गुरुदेव निरन्तर अपनी स्वरूपावस्था में तो रहते ही थे साथ-ही-साथ उनका शास्त्रग्रन्थावलोकन भी चलता रहता था। एक दिन उन्हें एक अधकचरे योगी मिल गये । वे अपने को नेती-धोती आदि हठयोग की क्रियाओं में निष्णात मानते थे, और उन्होने पू० गुरुदेव से कहा कि गुदामार्ग से जल को अपानवायु द्वारा ऊर्ध्व करके ऊपर चढ़ाने की क्रिया करने से वीर्य स्वतः ऊर्ध्व हो जाता है और चित्तवृत्ति बालवृत्ति को सहज ही प्राप्त हो जाती है ।

ये योगी गुरु बाद में पू० गुरुदेव के पास १९५१ ई० में गोरखपुर भी आये थे । पू० गुरुदेव ने तो उनको बहुत ही आदर दिया था । इन्हीं के संरक्षण में पू० गुरुदेव ने कुछ काल योगाभ्यास किया । हठयोग की यह साधना जटिल थी, इससे अपानवायु गलत नाड़ी में प्रवेश कर गयी । वे अधकचरे योगी पूरी क्रिया जानते तो थे नहीं, अतः इसके निवारण का कोई उपाय बता नहीं सके। पू० गुरुदेव के प्राणों पर बन आयी । स्थिति ऐसी गंभीर हो गयी कि मानो कुछ ही क्षणों में शरीरान्त हो जायेगा । किसी को कुछ भी सूझ नहीं रहा था कि क्या उपचार किया जाय । यह कष्ट किसी भी व्याधि का परिणाम तो था नहीं । थोड़ी देर पश्चात् वायु प्रकोप स्वतः कुछ कम हुआ तो कष्ट कम हो गया, परन्तु वह मात्र कुछ कम ही हुआ था, सर्वथा समाप्त नहीं ।

पू० गुरुदेव के साथ श्रीभवानीशंकरजी तो रहते ही थे । उन्होने पू० गुरुदेव से बिना पूछे ही चुपचाप पू० गुरुदेव के बड़े भाई श्रीतारादत्तजी को

पत्र द्वारा सूचना दे दी । घर से श्रीतारादत्तजी पू० गुरुदेव के पास पहुंच गये और उन्होने अपने गाँव चलने के लिये आग्रह किया । गाँव पर जाने के लिये पू० गुरुदेव तनिक भी राजी नहीं हुए । पू० गुरुदेव ने कहा - "यदि जाना ही है तो मैं कलकत्ते जाना चाहूँगा ।"

श्रीतारादत्तजी ने रेल से यात्रा करने के लिये कलकत्ते की टिकट कटा दी । पू० गुरुदेव पैसेंजर ट्रेन से कलकत्ता गये । श्रीतारादत्तजी ने कलकत्ते सूचना तार द्वारा करवा दी थी, अत: कई स्वजन स्टेशन पर आ गये थे ।

उन दिनों कलकत्ता में सुप्रसिद्ध प्राकृतिक-चिकित्सक थे, श्रीब्रह्मस्वरूपजी श्रोत्रिय। श्रीगुरुदेव उनके चिकित्सा-केन्द्र पर गये। भवन के द्वार पर दरबान ने पू० गुरुदेव का बड़ा अपमान किया। वह समझ रहा था कि यह भिखारी सन्यासी, मालिक को व्यर्थ ही तंग करने के लिये आया है । जब उससे यह कहा गया कि एक रोगी के रूप में चिकित्सा करवाने के लिये आये हैं, तब उसने प्रवेश करने दिया । पू० गुरुदेव भवन के अन्दर गये । एक सन्यासी को आया हुआ देखकर श्रीब्रह्मस्वरूपजी तुरन्त अपनी कुर्सी पर से उठ खड़े हुए और हाथ जोड़कर विनम्र भाव से उन्होंने पू० गुरुदेव को प्रणाम किया । पू० गुरुदेव ने उनको बतलाया कि एक हठयोग की क्रिया में किञ्चित् चूक हो जाने से पीठ की एक नाड़ी में वात प्रवेश हो गया है । यदि इसका उपचार संभव हो तो आप उचित परामर्श दें ।

श्रीब्रह्मस्वरूपजी ने पूर्ण आश्वासन दिया तथा उन्होंने प्राकृतिक-चिकित्सा-विधि से उपचार आरम्भ कर दिया। उन्होने न तो चिकित्सा-शुल्क लिया और न ही उपचार-व्यय । उन्होने बड़े सम्मानपूर्वक पू० गुरुदेव की चिकित्सा की । जितने विनम्र और उदार श्रीब्रह्मस्वरूपजी थे, वैसी ही सेवा-परायण और साधु-हृदया उनकी धर्मपत्नी भी थी । उसने करबद्ध होकर पू० गुरुदेव से प्रार्थना की "स्वामीजी ! घर पर भिक्षा किये बिना जाने नहीं दूंगी ।"

पू० गुरुदेव की प्राकृतिक-चिकित्सा लगभग १५, १६ दिन चली । इससे उन्हें बहुत ही लाभ हुआ । चिकित्सा का क्रम पूर्ण हो जाने के बाद भी पू० गुरुदेव उनके पास जाते रहे । पू० गुरुदेव प्रतिदिन जाते तथा प्राकृतिक चिकित्सा की प्रक्रिया का व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करते रहते । पू० गुरुदेव के अद्‌भुत पाण्डित्य एवं सत्य-आचरण से श्रीब्रह्मस्वरूपजी भी कम प्रभावित नहीं थे । परस्पर का यह स्नेह संबंध भविष्य में भी बना रहा ।

पुलिस सन्यासी वेष में

सन्यास ले चुकने के बाद भी पुलिस ने पू० गुरुदेव का पीछा नहीं छोड़ा। कलकत्ते के पुलिस विभाग ने पहचान लिया तथा पता लगा लिया कि सन्यासी वेष में यह युवक क्रान्तिकारी चक्रधर मिश्र ही है। उनको सन्देह था कि सन्यासी जीवन स्वीकार करना भी इसके षडयन्त्र का एक अंग हो सकता है । फिर पुलिस का एक गुप्तचर भी सन्यासी वेष में पू० गुरुदेव के पीछे लगा रहा । उन दिनों पू० गुरुदेव प्राय: संस्कृत भाषा में ही बोला करते थे । पू० गुरुदेव को क्या पता कि वह एक गुप्तचर है । वह सन्यासी वेषधारी गुप्तचर पू० गुरुदेव के ही साथ रहता । वे उस सन्यासी गुप्तचर को अपने साथ-साथ भिक्षा कराने लगे । वह कई दिनों तक उनके साथ रहा । उसकी आध्यात्मिक उन्नति नहीं देखकर उनको बहुत ही विस्मय होता था, अत: उन्होने उससे कहा - "महाराज ! मेरे साथ रहने से आपकी भिक्षा की व्यवस्था तो हो जाती है, परन्तु आपकी पारमार्थिक उन्नति के लक्षण दिखाई नहीं देते । मेरे जैसे अति साधारण व्यक्ति के साथ रहकर आप अपना समय क्यों नष्ट करते हैं ? आपको किसी श्रेष्ठसंत का आश्रय ग्रहण करना चाहिए।"

उस सन्यासी गुप्तचर ने कुछ उत्तर नहीं दिया । एक दिन पू० गुरुदेव ने उसको किसी दूसरे स्थान पर सादे नागरिक-वेष में देखा । पू० गुरुदेव ने उसको पहचान लिया और बंगला भाषा में पूछा - "महाशय आज यह नागरिक वेष कैसे धारण कर लिया ?"

वह सन्यासी गुप्तचर पू० गुरुदेव द्वारा प्रश्न किये जाने पर झेंप गया । उसने जान लिया कि आज मेरी पोल खुल गयी और इन्होने भी जान लिया कि यह तो सन्यासी-वेष में गुप्तचर था ।

फिर वह पू० गुरुदेव के पास कभी नहीं आया । इसके पश्चात् पुलिस ने भी इनका पीछा करना छोड़ दिया । इनकी बातचीत को, उनसे मिलने वालों को और उनके कार्य को लगातार देखते रहने के बाद पुलिस विभाग को आशंका करने के लिये कोई छिद्र नहीं मिला । सतत निरीक्षण करते-करते पुलिस को यह विश्वास हो गया कि इनका सन्यासी-जीवन किसी षडयन्त्र का अंग नहीं अपितु विशुद्ध आध्यात्मिक जीवन है ।

स्वामी रामसुखदासजी से परिचय एवं बाँकुड़ा प्रस्थान

पू० गुरुदेव नियमत: प्रतिदिन गंगा स्नान के लिये जाया करते थे । साधक, संत अथवा सिद्ध, सभी के लिये गंगा नित्य वन्दनीय हैं । भगवती गंगा के पावन शान्त प्रवाह का दर्शन, निर्मल नीर का सभक्ति सेवन एवं एकान्त कूल पर स्थिर-आसन साधकों, संतो-सिद्धों के लिये सदैव ही उपयोगी रहा है। गंगातीर के पुनीत वातावरण में ब्रह्मचिन्तन, भगवदर्चन, साधन- भजन आदि सहज संभव बन जाते हैं । जब पू० गुरुदेव गंगा स्नान के लिये जाते थे, तो किसी अचिन्त्य विधान से सदा ही उन्हें ऐसे श्रेष्ठ संत अथवा साधु विचारक-पंडित अथवा विरक्त सन्यासी मिलते थे और इनसे पर्याप्त समय तक सच्चर्चा हुआ करती थी । चर्चा के विषय मुख्यत: रहते थे, श्रीमद्भगवद्गीता के प्रधान प्रतिपाद्य सिद्धान्त, त्रिगुणातीत संतो के जीवन प्रसंग, सिद्ध महापुरुषों की जीवनचर्या एवं श्रीशंकराचार्यजी का अद्वैत तत्व ।

इसी अवधि में पू० गुरुदेव को गोविन्द भवन का परिचय मिला, जिसके द्वारा कल्याण पत्रिका का संचालन होता था । इसी के अन्तर्गत गोरखपुर मैं गीता-प्रेस था जिससे प्रकाशित होने वाली अनेक सुन्दर धार्मिक पुस्तकें होती थीं । कलकत्ते में गोविन्दभवन सदा से अध्यात्म चर्चा का एक प्रमुख केन्द्र था। वहाँ सत्संग की व्यवस्था सदा ही रहती थी, पर रविवार को विशेष सत्संग हुआ करता था । इसी दिन पूज्य स्वामीरामसुखदासजी के प्रवचन को सुनने के लिये न जाने कहाँ-कहाँ से श्रोतागण गोविन्दभवन आया करते थे । श्रीस्वामीजी महाराज का प्रवचन मुख्यत: श्रीमद्भगवद्गीता पर होता था । गीताजी पूज्य गुरुदेव का भी सबसे अधिक प्रिय ग्रन्थ रहा है। अत: गीताजी पर श्रीस्वामीजी के विचारों को सुनने के लिये वे भी गोविन्दभवन में श्रोताओं के मध्य बैठ जाते थे ।

पू० गुरुदेव वेष से अत्यधिक विरक्त रहते थे । उनके पास पहनने के लिये मात्र एक कोपीन तथा एक घुटनों से भी ऊँचा अधोवस्त्र रहता था । एक बार अधिक भीड़ के कारण वे मुख्य द्वार के पास खड़े हुए शान्तचित्त से प्रवचन सुन रहे थे । इतने में किसी बड़े सेठ की मोटर गाड़ी आयी । उसमें कोई मारवाड़ी सेठानी प्रवचन सुनने आयी होगी । भवन के दरबान ने उस सेठानी को भीड़ से रास्ता दिलाने की चेष्टा की । उसने पू० गुरुदेव को इस विरक्त वेष में एक भीख माँगने वाला मात्र भिखारी माना । अत: इन्हें हटाने

के लिये उसने इन्हें जोर से धक्का दे दिया । पू० गुरुदेव भाषण सुनने में इतने एकाग्र थे कि उन्हें दरबान की इस क्रिया का कोई पूर्वाभास ही नहीं हुआ । अन्यथा वे पूर्व संकेत मिल जाने पर स्वयं ही द्वार से हटकर रास्ता दे देते । श्रीरामसुखदासजी स्वामीजी मंच पर से दरबान द्वारा होती इस क्रिया को देख रहे थे । उन्होने पू० गुरुदेव की एकाग्रतापूर्वक भाषण सुनने की मुद्रा भी पूर्वत: देखली थी । अत: उन्होने तुरन्त भाषण स्थगित कर मंच से बाहर आकर पू० गुरुदेव को सड़क से उठाया । पू० गुरुदेव को दरबान का धक्का इतने जोर से लगा था कि वे अपने को सम्हाल नहीं पाये तथा सड़क पर गिर गये थे । श्रीस्वामीजी के मंच से उठकर आने पर तो दरबान को भी अपनी प्रमादजनित भूल समझ में आ गयी थी । वह भी बहुत ही लज्जित था । पू० गुरुदेव को स्वामीजी मंच पर ले आये और अपने पास बैठाकर प्रवचन करने लगे । यही श्रीस्वामीजी से पू० गुरुदेव का प्रथम परिचय था । यह परिचय आगे चलकर शीघ्र ही घनिष्ट रूप में परिणत हो गया ।

पू० गुरुदेव कट्टर वेदान्ती थे । भगवान के सगुण साकार रूप को वे मायावाद के क्षेत्र की वस्तु मानते थे । तर्क के द्वारा उन्हें सगुण-साकार स्वरूप को स्वीकृत करवा देना कठिन था । कलकत्ते के गोविन्दभवन में स्वामी रामसुखदासजी से विचार-विनिमय हुआ । इसे एक प्रकार से शास्त्रार्थ भी कह सकते हैं । परस्पर के विचारों का आदान-प्रदान संस्कृत भाषा में हुआ । वे सगुण रूप का प्रतिपादन कर रहे थे, परन्तु पू० गुरुदेव के तर्क भी अतिप्रखर थे । पू० गुरुदेव की तार्किकता का समाधान नहीं हो सकने पर श्रीरामसुखदासजी महाराज ने कहा कि मैं तो ऐसा ही मानता हूँ । इस पर पू० गुरुदेव का उत्तर था कि किसी की व्यक्तिगत मान्यता से सत्य थोड़े ही बदल जायेगा । सत्य तो सत्य ही रहेगा । किसी भी मत के पीछे शास्त्र एवं विचारों की तार्किकता तो होनी ही चाहिए ।

स्वामी रामसुखदासजी ने तत्व-चिन्तामणि नामक श्रीसेठजी जयदयालजी गोयन्दका की पुस्तक के कुछ भाग पू० गुरुदेव को पढ़ने को दिये । उन्हें पू० गुरुदेव ने दो-तीन दिन में पढ़कर वापस कर दिये । परन्तु वे सगुण साकार स्वरूप को स्वीकार नहीं कर सके । इसी समय श्रीसेठजी का एक पत्र उन्हें सुनने को मिला । उस पत्र से पू० गुरुदेव बहुत प्रभावित हुए । उस पत्र में जो बातें लिखी थीं, वे सारी बातें वही व्यक्ति लिख सकता था जो ज्ञान की चौथी भूमिका में प्रतिष्ठित हो । यह सेठजी का पत्र श्रीस्वामीजी,

श्रीचम्पालालजी बिन्नानी को सुना रहे थे । पू० गुरुदेव गंभीरता से विचार करने लगे कि- ऐसा पत्र वही लिख सकता है, जिसे स्वरूपानुभव हो गया हो। पू० गुरुदेव ने श्रीरामसुखदासजी महाराज से पूछा- "यह पत्र किसने लिखा है ?" श्रीस्वामीजी ने कहा - "यह पत्र श्रीसेठजी जयदयालजी गोयन्दका का है ।

पू० गुरुदेव ने पूछा - "श्री सेठजी कहाँ रहते हैं ?"

स्वामी रामसुखदासजी बोले - "वे तो बाँकुड़ा रहते हैं ।"

पू० गुरुदेव ने पुनः पूछा "यह बाँकुड़ा कहाँ है ?"

स्वामीजी ने उत्तर दिया - "बाँकुड़ा बंगाल का ही एक नगर है । श्रीसेठजी का वहीं पर संपूर्ण व्यापार है।"

पू० गुरुदेव ने जिज्ञासा की - "मैं उनसे मिलना चाहता हूँ ।"

स्वामीजी ने स्वीकृति में कहा - "आपके बाँकुड़ा जाने की सारी व्यवस्था करवा दी जायेगी । आप वहाँ कब जाना चाहेंगे ।"

पू० गुरुदेव ने त्वरा दिखाई- "मैं तो आज ही वहाँ जाना चाहता हूँ। जब किसी से मिलने की इच्छा जग ही गयी, तब फिर विलम्ब क्यों किया जाय ?"

स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज श्रीसेठजी के परम निजजन थे, स्वामीजी को यह देखकर बहुत ही प्रसन्नता हो रही थी कि पू० गुरुदेव जैसे प्रतिभा सम्पन्न सन्यासी के मन में श्रीसेठजी के प्रति आदर का भाव जाग उठा है । श्रीस्वामीजी महाराज ने रेल की टिकट कटवा कर पू० गुरुदेव को दे दी। साथ ही बाँकुड़ा तार भी करवा दिया गया कि एक युवक सन्यासी आपके दर्शनार्थ आ रहे हैं, जो बड़े ही योग्य हैं । तार यथासमय बाँकुड़ा पहुँच गया।

श्रीसेठजी के आदेशानुसार श्रीघनश्यामदासजी जालान, जो आजीवन गीताप्रेस के मुद्रक तथा प्रकाशक रहे, साथ ही श्रीसेठजी के अत्यन्त निकट सहयोगी रहे, पू० गुरुदेव को लेने प्रतीक्षारत थे । पू० गुरुदेव ने श्री सेठजी के घर ही भिक्षा की एवं तब सेठजी से उनकी एकान्त चर्चा हुई ।

श्रीसेठजी कभी भी अपने बारे में अधिक नहीं बताया करते थे । बहुत ही अन्तरंग लोगों के सम्मुख गूढ़ सत्संग में उनके मुख से अपने बारे में भले ही कुछ निकला हो । वे स्वयं को बहुत ही सुगुप्त रखते थे । ऐसे संगोपन-प्रिय सेठजी ने मिलते ही पू० गुरुदेव के सम्मुख अपनी स्वरूप-स्थिति की बात खोलकर बता दी । किसी अज्ञात प्रेरणा से सेठजी ने पू० गुरुदेव की उस

जिज्ञासा का स्वतः समाधान कर दिया । पू० गुरुदेव तो यही चाहते थे कि वस्तुतः उस पत्र के लेखक को स्वरूपानुभूति हो गयी है,यह बात उन्हें निश्चय हो जाय । अपने अनुमान को सही पाकर पू० गुरुदेव को बड़ी ही प्रसन्नता हुई ? श्रीगोयनकाजी के सम्मुख गुरुदेव नतमस्तक थे ।

अब भगवत्तत्व पर परस्पर में विचार विनिमय होने लगा । पू० गुरुदेव शांकर मतानुयायी थे और अद्वैत साधना के अनुसार जो पूर्णता की स्थिति होती है, उसमें ही उनकी प्रतिष्ठा थी । अनन्त-सत्य-ज्ञान-आनन्दमय ब्रह्म से सदा एकात्मता की अनुभूति के फलस्वरूप पू० गुरुदेव को यह अनुभव होता रहता था कि जगत् न था, न है और न ही होगा । यह जगत् तो स्वप्नवत् पूर्णतः मिथ्या ही है । ऐसी ब्राह्मी स्थिति में प्रतिष्ठित रहने के कारण पू० गुरुदेव श्रीसेठजी गोयनकाजी से विचार-विनिमय करते समय अपनी अद्वैत निष्ठा का ही प्रतिपादन करते थे ।

"ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नाऽपर" महावाक्य के अनुसार पू० गुरुदेव की स्थापना यही थी कि एक मात्र अद्वैत ब्रह्म ही सत्य है । ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी की सत्ता है ही नहीं । जीव ब्रह्म ही है और सम्पूर्ण जगत् स्वप्नवत् मिथ्या है । जीवन की मुक्ति का एकमात्र उपाय आत्म-ज्ञान है । ईश्वर का सगुण साकार स्वरूप और उनकी भक्ति सर्वथा मायाराज्य की वस्तु है । परमतत्त्व के साक्षात्कार का एक मात्र साधन ज्ञानयोग है । श्रीसेठजी की मान्यता इससे भिन्न थी । श्रीसेठजी की आत्यन्तिकी निष्ठा तो ईश्वर के निर्गुण-निराकार ब्रह्म-स्वरूप में ही थी । वे मानते थे कि जिस प्रकार बिन्दु सिन्धु में मिलकर सिन्धु से अभेद रूप में एकाकार हो जाता है, उसी प्रकार जीवका परम प्राप्तव्य निर्गुण निराकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्म में अभेद रूप से मिलकर एक हो जाना ही है । परन्तु इसके साथ ही श्रीसेठजी की आस्था ईश्वर के सगुण साकार रूप में भी थी । श्री सेठजी की मान्यता के अनुसार जीव सगुण-साकार ईश्वर की भक्ति के द्वारा भगवत्साक्षात्कार करके भी परम पद को प्राप्त कर सकता था। श्रीसेठजी की मान्यता का आधार था श्रीमद्भगवद्गीता के तीसरे अध्याय का तीसरा श्लोक।

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ।।

गीतावक्ता श्रीभगवान् के इस कथन के आधार पर श्रीसेठजी का सतत प्रतिपाद्य तथ्य यही था कि जिस प्रकार ईश्वर का निर्गुण-निराकार-स्वरूप सत्य है, उसी प्रकार सगुण-साकार स्वरूप भी सत्य है । निर्गुण-निराकार साध्य की प्राप्ति के लिये साधन पथ है ज्ञानयोग और सगुण साकार साध्य की प्राप्ति के लिये साधनपथ है भक्तिप्रधान कर्मयोग। ये दोनो साधनपथ स्वयं में पूर्ण हैं तथा एक दूसरे से सर्वथा स्वतन्त्र हैं । किसी एक साधन पथ के आश्रय से भी साधक अपने जीवन के चरम लक्ष्य तक पहुँच सकता है ।

श्रीसेठजी का भक्ति-सम्बन्धी सिद्धान्त पू० गुरुदेव को मान्य नहीं था । श्रीसेठजी अपनी मान्यता समझाना चाहते थे, पर वैसी प्रतिपादन-क्षमता नहीं होने के कारण पू० गुरुदेव को समझा नहीं पाये । पू० गुरुदेव विद्वान् थे और विद्वानों की गोष्ठी में जिस शैली से विचारों का आलोचन-प्रतिपादन, खण्डन-मण्डन हुआ करता है, उसी शैली के पू० गुरुदेव अभ्यस्त थे । श्रीसेठजी अपनी बात को सीधे-सीधे शब्दों में सरल रीति से रखना जानते थे, पर पू गुरुदेव की शास्त्रीय शैली के समक्ष उनकी वह सरल पद्धति टिक नहीं पाती थी । शब्द-प्रमाण, पारिभाषिक शब्दावली आदि का प्रयोग करते हुए, जिस शास्त्रीय शैली से विद्वान् लोग अपने मत का प्रतिपादन किया करते हैं, इसका श्रीसेठजी के पास अभाव था । परिणाम यह निकला कि श्रीसेठजी को अपने प्रयास में सफलता नहीं मिली । वे चाहकर भी पू० गुरुदेव को समझा नहीं पाये ।

इस विचार-विनिमय का स्वरूप कुछ-कुछ शास्त्रार्थ जैसा ही था । दोनों पक्षों की ओर से स्वानुभूत सत्य का उद्घाटन और प्रतिपादन ही इस शास्त्रार्थ में आदि से अन्त तक रहा । प्रतिपक्ष को परास्त करके विजय गर्व से प्रफुल्ल होने की भावना किसी के भी मन में नहीं थी । शास्त्रार्थ में विजयी कहलाकर अहं-भाव को परितोषित करने की वृत्ति का कहीं अस्तित्व ही नहीं था । किसी भी प्रकार की क्षुद्रता से पूर्णत: विरहित था यह शास्त्रार्थ । दोनो पक्षों की ओर से एक मात्र हो रहा था अपने-अपने अनुभूत सत्य का निवेदन । इसी का परिणाम था कि इस विचार विनिमय में कटुता के लेशका उद्भव कहीं भी हुआ ही नहीं, प्रत्युत् इस संपूर्ण विचार-विवेचन में आत्यन्तिक सौहार्द परिव्याप्त रहा । इतना होकर भी स्वानुभूत सत्य का आग्रह और उस अनुभवगत सत्य को भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रस्तुत करने का पूर्ण प्रयास दोनों

पक्षों में था ही । यही हेतु था कि पू० गुरुदेव इस विचार विनिमय को कभी-कभी शास्त्रार्थ कहा करते थे ।

जब पू० गुरुदेव सेठजी के पास बाँकुड़ा गये थे, उसके तीन-चार दिन बाद ही श्रीसेठजी को सत्संग के लिये राँची जाना था । श्रीसेठजी के अनुरोध पर पू० गुरुदेव भी उनके साथ-साथ राँची गये । बाँकुड़ा तथा राँची, इन दोनो स्थानों पर लगभग चौदह-पन्द्रह दिनों तक पू० गुरुदेव का तथा सेठजी का परस्पर में विचार-विनिमय होता रहा । भले ही यह विचार-विनिमय एक पक्ष तक चला, फिर भी इस अवधि में पू० गुरुदेव के प्रखर तर्कों के सामने श्रीसेठजी की बात उभर नहीं पायी । जहाँ तक निर्गुण निराकार ब्रह्म के (क) साध्य-तत्व तथा (ख) साधन-पद्धति की बात थी, वहाँ तक इन दोनों विभूतियों की मान्यताएँ समान थीं । निर्गुण निराकार ब्रह्म के साध्य-साधन की दृष्टि से दोनों एक दूसरे से सहमत थे, परन्तु सगुण-साकार ईश्वर के (क) साध्य-तत्व और (ख) साधन-पद्धति, अर्थात (क) ईश्वर के अस्तित्व और (ख) ईश्वर की उपासना के विषय में पू० गुरुदेव श्रीसेठजी से सर्वथा असहमत थे । ईश्वर एवं ईश्वर की भक्ति सम्बन्धी प्रत्येक बात को पू० गुरुदेव मिथ्या राज्य की वस्तु मानते थे । यह ठीक है कि ईश्वर की साकारोपासना से सम्बन्धित बातें श्री सेठजी पू० गुरुदेव के हृदय में स्थापित नहीं कर पाये, परन्तु सत्य तो सत्य ही है और जो सिद्धान्त उनके अपने अनुभव से पूर्णरूपेण स्वत: सिद्ध था, उसे वे कैसे झुठला देते ? वह सत्य तो उनका स्वानुभूत था । जब श्रीसेठजी किसी भी प्रकार से पू० गुरुदेव को नहीं समझा पाये तो उन्होंने पू० गुरुदेव से कहा - "आप एक बार भाई श्रीहनुमान प्रसाद जी पोद्दार से गोरखपुर में मिल लें।"

पू० गुरुदेव ने तटस्थ भाव से उत्तर दिया - "श्रीपोद्दारजी से मिलने के लिये मेरे मन में उत्साह नहीं ।"

पू० गुरुदेव का अध्ययन विशाल था । उस अध्ययन के आधार पर पू० गुरुदेव को लगा कि श्रीमद्भगवद्गीता सम्बन्धी सेठजी के जो भाव हैं, वैसे अन्यत्र देखने में नही आते । और यह गहन चिन्तन यदि लिपिबद्ध नहीं हुआ तो जगत् एक दिव्य और दुर्लभ निधि से वंचित रह जायेगा । पू० गुरुदेव ने सेठजी से कहा - "आप गीता सम्बन्धी अपने विचारों को लिपिबद्ध करा दें ।"

अपनी विवशता व्यक्त करते हुए श्री सेठजी ने उत्तर दिया - "कौन करे, और कैसे होगा ? मैं तो शुद्ध हिन्दी भी ठीक प्रकार से बोल नहीं पाता।"

पू० गुरुदेव ने कहा आप अपने विचार मुझे बतलायें । उनको लिखकर के मैं आपको दिखला दूँ । यदि आपको ऐसा प्रतीत हो कि मेरे द्वारा ठीक लिखा गया है तो फिर लेखन कार्य हो ।

श्री सेठजी मारवाडी -मिश्रित हिन्दी का प्रयोग अपने गीता-प्रवचनों में किया करते थे । पू० गुरुदेव ने श्री सेठजी के एक प्रवचन को शुद्ध हिन्दी भाषा में लिपिबद्ध करके श्री सेठजी के सम्मुख प्रस्तुत किया । पू० गुरुदेव की अभिव्यक्ति- कुशलता, भाषा-अधिकार और विषय-प्रवेश को देखकर सेठजी अति विस्मित हुए । बस, उसी दिन यह निर्णय हुआ कि श्रीमद्भगवद्गीता की टीका लिखी जाय और इस कार्य का आरम्भ गोरखपुर में हो । श्री सेठजी को कहीं अन्यत्र कार्यवश जाना था अतः यह निर्णय हुआ कि वे स्वतन्त्र रूप से अन्यत्र होते हुए गोरखपुर पहुंचेंगे और पू.गुरुदेव को गोरखपुर पहुँचने के लिये रेल टिकिट कटा कर दे दी गयी ।

श्री सेठजी जयदयालजी गोयन्दका के चमत्कार

श्री सेठजी जयदयालजी गोयन्दका पू० गुरुदेव की दृष्टि में ज्ञान की चौथी भूमिका में प्रतिष्ठित संत थे । उनमें अनेक चमत्कार भी थे । पू० गुरुदेव के सम्मुख उनके जो चमत्कार प्रकाश में आये, यहाँ मात्र उनका ही उल्लेख किया जा रहा है । वैसे उनके अनेक चमत्कारों की बातें दूसरे सत्संगियों ने भी बतलायी हैं ।

वास्तव में विषयों का उपभोग न करने वाले के विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, परन्तु जो आसक्ति है वह निवृत्त नहीं होती । रस की इस आसक्ति की सर्वथा निवृत्ति तभी होती है, जब परतत्व का ठीक अनुभव हो जाय अथवा साक्षात् भगवद्दर्शन हो जाय । अद्वैत साधना के अनुसार पूर्णता की जो स्थिति होती है, उसमें पू० गुरुदेव की प्रतिष्ठा थी । ऐसी ब्राह्मी स्थिति में प्रतिष्ठित रहने के उपरान्त भी वे अपने में एक दोष पाते थे । वे जब भी भिक्षा करते थे, यदि कोई वस्तु मिष्ठान्न(मीठी) होती थी तो वे अधिक खा जाते थे । पू० गुरुदेव जब भी अपनी आत्मस्थिति पर विचार करते तो उन्हें कहीं भी न्यूनता

नहीं दिखती थी, परन्तु मीठी वस्तु अधिक खा लिये जाने के आधार पर वे यही मान लेते थे कि उन्हें अभी परतत्व का साक्षात्कार नहीं हुआ है । उन्होने मन ही मन यह सोच रखा था कि जो मेरी इस गुत्थी को सुलझा देगा, उसका मैं महापुरुषत्व स्वीकार कर लूँगा । उन्होने यह प्रश्न श्रीसेठजी के सम्मुख भी रखा ।

श्री सेठजी ने पू० गुरुदेव से बहुत ही सरल ढंग से कहा कि मीठी वस्तु अधिक खा लेने का अर्थ ब्राह्मी स्थिति में कोई त्रुटि नहीं है । मीठी वस्तु के खाने की स्पृहा तो रक्त की अल्पता की द्योतक है । रक्ताल्पता के समाप्त होते ही वह स्पृहा और स्पृहाजनित क्रिया स्वत: ही समाप्त हो जायगी । इस उत्तर से पू० गुरुदेव की सारी उलझन समाप्त हो गयी । पू० गुरुदेव सन्देहरहित रूप से विभुतत्व में प्रतिष्ठित हो गये ।

इसी प्रकार बांकुड़ा से राँची आते समय पू० गुरुदेव से श्रीसेठजी का विचार-विमर्श रेलगाड़ी में भी चल रहा था । श्रीसेठजी बहुत प्रयत्न करने पर भी पू० गुरुदेव को सगुण-साकार तत्व पर विश्वास नहीं करा पा रहे थे। उनका कथन अनुभव के आधार पर था, जिसे पू० गुरुदेव किसी भी प्रकार मानने को उद्यत नहीं थे । अन्त में थककर उन्होने अपनी सिद्धि का प्रयोग करने की ठानी । पू० गुरुदेव से उनका विचार तो चल ही रहा था, इसी बीच उन्होने अपना वस्त्र पू० गुरुदेव के शरीर से संस्पर्शित करा दिया । वस्त्र के संस्पर्श होते ही पू० गुरुदेव के सम्मुख भगवान् नारायण की ध्यान-मूर्त्ति प्रकाशित हो गयी । पू० गुरुदेव चकित थे कि बिना किसी ध्यान, चेष्टा एवं साधना के यह मूर्ति मेरे सम्मुख कैसे व्यक्त हो रही है । भगवान् नारायण की वह प्रतिमा अलौकिक सुन्दर,अतिशय तेजस्वी थी । उसके आलोक से एक बार तो पू० गुरुदेव का समग्र अन्त:करण आलोकित हो उठा। सहसा पू० गुरुदेव के मन में एक सन्देह हो गया कि हो-न-हो यह श्रीसेठजी का कोई सिद्धि प्रयोग ही है । उन्होने ज्योंही नीचे की ओर दृष्टि डाली, उन्हें इस तथ्य का ज्ञान भी हो गया कि उनके शरीर से श्रीगोयन्दकाजी का वस्त्र का छोर संस्पर्शित हो रहा है । उन्होने हँसकर वह वस्त्र हटा दिया एवं श्री सेठजी को यह उत्तर दिया कि विचारों को विचारों से काटिये, इस प्रकार जादू का प्रयोग क्यों करते हैं ?

वस्त्र का छोर हटने से वह मूर्ति भी स्वत: ही लुप्त हो गयी ।

गोरखपुर आगमन एवं पू० भाईजी हनुमानप्रसादजी पोद्दार से प्रथम भेंट

श्रीसेठजी जयदयालजी गोयन्दका से निर्धारित कार्यक्रमानुसार पू० गुरुदेव दो रात और एक दिन की रेल यात्रा करके गोरखपुर रेल्वे स्टेशन पर उतरे। यात्रा में भिक्षा का तो प्रश्न ही नहीं था । अत: वे निराहार ही थे । वे भिक्षा की याचना तो करते नहीं थे, प्रारब्धानुसार स्वत: ही कोई आग्रह करता तो भिक्षा किया करते थे । आहार के अभाव में उनके शरीर में पर्याप्त शिथिलता थी । स्टेशन से बाहर आकर पू० गुरुदेव ने गीताप्रेस का मार्ग पूछा और स्टेशन से दूरी भी पूछी । लगभग तीन मील की दूरी की बात सुनकर पू० गुरुदेव एक बार तो स्तब्ध रह गये । वे अर्थ का स्पर्श नहीं करते थे और न ही किसी जानदार सवारी पर चढ़ते ही थे। अशक्तता की अनुभूति पर्याप्त थी, परन्तु दूसरा कोई उपाय भी नहीं था । वे थोड़ी दूर चलते फिर थककर बैठ जाते । इस प्रकार नौ-दस बार ठहरते, बैठते-उठते हुए तीन मील की दूरी उन्होने अढ़ाई-तीन घंटे में तय की । पं० श्रीलादूरामजी उन्हें गीताप्रेस के द्वार पर मिले । उनसे श्रीसेठजी गोयन्दकाजी के बारे में पूछने पर पता चला कि वे अभी तक आये हैं नहीं, संभव है एक दो दिवस में आवें । उन्होने शर्माजी से हनुमानप्रसादजी पोद्दार के बारे में पूछ लिया । उनकी स्मृति उन्हें सहसा ही हो आयी थी । श्रीशर्माजी ने कहा -"वे हैं तो सही, परन्तु वे रहते हैं गीतावाटिका में, जो यहाँ से लगभग तीन मील दूर है ।

अभी तक तो पू० गुरुदेव खड़े-खड़े बात कर रहे थे, परन्तु पुन: तीन मील की बात सुनते ही वे हताश होकर वहीं भूमि पर बैठ गये । शरीर की दुर्बलता एवं उपवास जनित अशक्तता के कारण तीन मील पुन: चलना उन्हें असंभव लग रहा था । परन्तु भगवदिच्छा से श्रीलादूरामजी के मन में सद्भाव का उदय हो गया । उन्होने गुरुदेव से कहा कि मैं आपको इक्का कर देता हूँ, उस पर चढकर आप गीतावाटिका चले जाइये । नियमत: जानदार सवारी पर पू० गुरुदेव बैठते नहीं थे, परन्तु यहाँ तो सर्वथा ही विवशता की स्थिति थी । इक्के का भाड़ा श्रीशर्माजी ने दे दिया था । इक्का गीताप्रेस से गीतावाटिका आया । प्रवेश द्वार पर पू० गुरुदेव उतर पड़े ।

उस समय गीता वाटिका लघु वनस्थल ही था । बिजली का प्रकाश था नहीं । रात के समय मात्र लालटेन के प्रकाश से काम चलाया जाता था ।

चारों ओर आम और अमरूद के बड़े-बड़े बाग एवं खेत थे । क्षेत्र इतना निर्जन था कि लोग दिन में आते ही डरते थे । गीतावाटिका अपने आप में एक ऋषि उपवन था । हरी-भरी लताओं और ऊंचे-ऊंचे वृक्षों के कारण उपवन बहुत ही सघन था । फूल चतुर्दिक असंख्य थे । फल भी मौसम के अनुसार सभी होते थे । इस ऋषि-उपवन में इने-गिने कतिपय सहयोगियों के साथ श्रीपोद्दारजी 'कल्याण' पत्रिका का सम्पादन कार्य किया करते थे ।

गीतावाटिका के प्रवेशद्वार पर ही पू० गुरुदेव को श्रीदुलीचन्दजी दुजारी मिले । वाटिका के अग्रभाग में एक भवन था, उसी में श्रीपोद्दारजी सपरिवार रहते थे । इसी भवन में सम्पादकीय विभाग के लोग भी रहा करते थे । यही उनका कार्यालय भी था । उस भवन के बरामदे की सीढ़ियों में पू० गुरुदेव बैठ गये ।

इन दिनों यहां एक वर्ष का अखण्ड साधक-सत्र चल रहा था । देशभर से सैकड़ों साधक साधना एवं सत्संग करने यहाँ आये थे । वहाँ अखण्ड भगवन्नाम संकीर्त्तन भी चल रहा था, साथ ही श्री शान्तनुबिहारी द्विवेदी (श्री अखण्डानन्द सरस्वती) द्वारा श्रीमद्भागवत कथा भी चल रही थी ।

जिस समय पू० गुरुदेव वहाँ पहुँचे संकीर्तन पण्डाल में श्रीपोद्दारजी स्वयं एक अण्डी (कटिया रेशम का वस्त्र) ओढे हुए हाथ से ताली बजा-बजाकर कीर्त्तन कर रहे थे । श्रीदुलीचन्दजी ने श्रीपोद्दारजी को सूचना दी कि एक दुबले-पतले युवक सन्यासी बाहर से आये हैं और आपको पूछ रहे हैं । श्रीदुलीचन्दजी से सूचना पाते ही श्रीपोद्दार महाराज संकीर्तन पण्डाल से चलकर पू० गुरुदेव के पास आये और दोनों हाथों से पू० गुरुदेव के दोनों चरणों को छूकरके प्रणाम किया । ये पू० गुरुदेव के स्वयं के शब्द हैं कि "पहली ही भेंट में उन्होने मुझमें रसराज श्रीकृष्ण को प्रतिष्ठित कर दिया । रसस्वरूप श्रीकृष्ण और महाभाव स्वरूपा श्रीवृषभानुनन्दिनी वैसे तो एक ही हैं, परन्तु उन रसस्वरूप संत ने पहली ही भेंट में मुझे महाभाव का दान कर दिया । इस दान की प्रक्रिया भी अति विचित्र थी ।"

"जगत् में दाता का हाथ और दाता का मस्तक सदा ऊँचा रहता है । पर इन रसस्वरूप श्रीपोद्दार महाराज ने स्वयं झुककर दान दिया । मेरे चरणों को छूकर दान दिया और अपने मस्तक को झुकाकर दान दिया । इसीलिये मैनें एक सोरठा बनाया है- विभु-तत्व में मेरी प्रतिष्ठा तो श्री सेठजी ने की, परन्तु मुझमें श्रीराधाकृष्ण के रसतत्व की प्रतिष्ठा श्रीपोद्दार महाराज ने की।"

"ब्रह्मरूप स्वस्थान जयदयाल विभु ने दिया ।
महाभाव रसदान कृष्णरूप हनुमान ने ।"

"जो कार्य श्रीसेठजी से चौदह-पन्द्रह दिन तक शास्त्रार्थ करने से नहीं हुआ, वह एक क्षण के इस स्पर्श ने कर दिया । साकारोपासना की तो बात ही क्या । वस्तुतः ऐसी बात तो अति साधारण स्तर की ही होती । साकारोपासना की अन्तरंगतम हृदयवस्तु उस स्पर्श के द्वारा श्री पोद्दारजी महाराज ने मुझे प्रदान कर दी । न जाने कितनी-कितनी उपासना-साधना के उपरान्त भी जो वस्तु प्राप्त नहीं होती, वह लव मात्र में मुझे कैसे प्राप्त हो गयी, यह रहस्य बुद्धिगम्य है ही नहीं । यह सब अनुमान से अति अतीत है। बस, इतना ही कह सकता हूँ कि साकारोपासना की हृदय वस्तु जो व्रजभाव है, वह श्रीपोद्दार महाराज के उस अद्‌भुत स्पर्श से लव मात्र में मेरे अन्तर में सुस्थापित हो गया ।"

"ब्राह्मी स्थिति की मस्ती में मैं चतुर्थाश्रमी सन्यासी न तो झुका और न ही मैने हाथ पसारे, जब वस्तु के महत्व से भी अपरिचित था तो याचना होती भी कैसे, अतः मन में भी याचना का भाव नहीं था, परन्तु ज्ञानोत्तर भावराज्य की रसमयता में सतत निमग्न श्रीपोद्दार महाराज को वस्तु का दान करते समय झुकने के लिये सोचना भी नहीं पड़ा । सहज भाव से वे झुके और अति विनम्र होकर उन्होने अपने जीवन की निधि मुझे सौंप दी । वस्तुतः रसामृत के दान की यह प्रक्रिया ही अति अद्‌भुत है । गागर आयी अवश्य सागर के पास, परन्तु गागर झुकी नहीं, सागर पूर्णतः झुक गया । रसामृत का पान कराने के लिये झुक पड़ा सागर । सागर बह पड़ा और रस से सिक्त हो उठा पात्र ।"

पू० गुरुदेव की दृष्टि पोद्दार महाराज पर तभी से लग गयी थी जब वे प्रणाम कर रहे थे । प्रणाम करके ज्यों ही उन्होने अपना मस्तक उठाया उनकी दृष्टि पू० गुरुदेव की दृष्टि से एक हो गयी । पू० गुरुदेव को श्रीपोद्दार महाराज एकटक देखने लगे । तीन-चार मिनट का समय कम नहीं होता । इस अवधि में निश्शब्द दोनों एक-दूसरे को अपलक देखत रहे । यह परस्पर निहारना ऐसा उत्कंठायुक्त था मानो कितने युगों से यह सम्मिलन हुआ हो ।

चार-पाँच मिनट पश्चात् जब पोद्दार महाराज कुछ प्रकृतिस्थ हुए तो उन्होने पू० गुरुदेव से भिक्षा के बारे में पूछा । पूछने पर पू० गुरुदेव मन्द-मन्द मुसका दिये । श्रीपोद्दार महाराज ने अनुमान लगा लिया कि पू०

गुरुदेव को निराहार रहना पड़ा है । उन्होने तत्काल उनके विश्राम और भिक्षा की व्यवस्था की ।

उस दिन एकादशी थी अत: पोद्दार महाराज थाल में व्रतोचित फलाहारी वस्तुएँ लेकर पू० गुरुदेव के सम्मुख आये । पू० गुरुदेव ने कहा - "मैं पहले स्नान करना चाहता हूँ ।"

तत्काल स्नान की व्यवस्था हुई । भिक्षा के समय पत्तल परोसने का कार्य स्वयं पोद्दारमहाराज ने ही किया । इसी प्रकार कुटिया में पू० गुरुदेव के लिये पुआल का गद्दा भी श्रीपोद्दारजी ने स्वयं ही बिछाया । पू० गुरुदेव स्वयं देख रहे थे कि श्रीपोद्दार महाराज में संत-सेवा का कैसा भाव और चाव है । अतिथि-सत्कार की इस क्रिया ने उन्हें विस्मय से भर दिया था । वे सोच रहे थे कि क्या ऐसे सेवा-भावी शीलसम्पन्न मानव इस भूतल में आज भी हैं ?

सब आवश्यक कार्यों से जब गुरुदेव निवृत्त हो गये तो उनकी सुस्थिरता से पू० श्रीपोद्दार महाराज से वार्ता हुई । पू० गुरुदेव ने संक्षेप में बतलाया किस प्रकार राँची में श्रीसेठजी से श्रीमद्भगवद्गीता की टीका लिखने की बात उठी और फिर गोरखपुर आने का कार्यक्रम बना । सारे विवरण को सुनकर पू० श्रीपोद्दारमहाराज ने कहा - "स्वामीजी । मुझे तो आज ही वाराणसी जाना पड़ रहा है। वहाँ एक स्वजन मरणासन्न स्थिति में हैं । वाराणसी जाना आवश्यक है । तीन-चार दिन में मैं अवश्य लौट आऊँगा । तबतक आप यहीं विराजित रहें । आपको कुछ भी कष्ट नहीं होगा । मेरे व्यक्ति आपकी भली प्रकार सँभाल कर लेंगे ।

पू० गुरुदेव ने उत्तर दिया - "आप मेरी ओर से निश्चिंत हो जायें । आप चिन्ता-रहित होकर वाराणसी यात्रा करें । मैं यहीं पर रहूँगा।"

श्रीपोद्दार महाराज उसी रात्रि में वाराणसी चले गये । पू० गुरुदेव ने रात्रि में गहरी निद्रा ली । ट्रेन की लम्बी यात्रा में वे ठीक प्रकार से सो नहीं पाये थे ।श्री पोद्दार महाराज दो-तीन दिवस में ही लौटकर आने वाले थे, परन्तु वे संयोगवश लौटकर आये प्रतिपदा-तिथि के दिन ।

पू० गुरुदेव गोरखपुर आने के पश्चात् आमूल परिवर्तित हो गये । पू० गुरुदेव की स्थिति के सम्बंध में पू० श्री पोद्दार महाराज के ही शब्दों में यहाँ उनकी स्वयं की वाणी उद्धृत की जा रही है :-

"बदलते-बदलते वे रस-तत्व में प्रवेश करके व्रज रस के उपासक बन गये । दो भिन्न अवस्थाएँ होती हैं । रसतत्व वाले अद्वैत के विरोधी होते हैं

और अद्वैत-तत्ववाले रसतत्व को अज्ञान की भूमिका में मानते हैं । अद्वैत मतावलम्बी सम्प्रदाय में कुछ ऐसे भी हैं, जो भगवान् को भी माया की वस्तु मानते हैं और कहते हैं कि ईश्वर मायोपाधिक है । वे जीवको अविद्योपाधिक कहतें हैं और ईश्वर को मायोपाधिक बताते हैं। अविद्या और माया का निरसन हुआ कि न जीव है और न ही ईश्वर है । वे ईश्वर की सत्ता को तत्वत: स्वीकार नहीं करते । बस, साधनकाल में ईश्वर का उपयोग करना चाहिए, इतनी ही उनकी ईश्वर संबंधी महत्वबुद्धि होती है । ईश्वर का स्तवन, पूजन मात्र अन्त:करण की शुद्धि के ही लिये प्रयोजनीय है - यही उनकी धारणा होती है । परन्तु उपास्य ईश्वर कोई तत्व की वस्तु है, यह वे नहीं मानते । ईश्वर मात्र साधन की ही वस्तु है, तत्वत: सत्य नहीं है ।"

"इसी तरह से रसतत्व के लोग भी अद्वैत तत्व का मखौल उडाया करते हैं और इसे जड़, आकाश की भाँति शून्य कहकर उपहास करते हैं । यह उपहास कुछ तो उनका विनोद, कुछ शास्त्रार्थ के लिये हठ, एवं कुछ दुराग्रह होता है और कुछ तो अज्ञान ही होता है, जिसका निरसन आवश्यक है । ये कुछ सिद्धान्त की बातें हैं। अद्वैत तत्व में स्वामीजी की निष्ठा होते हुए भी रसतत्व में इनका प्रवेश हुआ और वह प्रवेश उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया । जो इनके अन्तरंग जीवन के सम्पर्क में आये हैं, उनको मालूम है कि महाभाव की जो अगले स्तर की चीज है, जिसकी रूपरेखा शायद गोस्वामी प्रभृति-रस मर्मज्ञों तक ने भी नहीं खींची, वैसी चीज इनमें व्यक्त हुई, इनके अनुभव में आयी है । इनका जीवन रस-समुद्र में निमज्जन है । रस-सागर में जो भाव तरंगें उठा करती हैं संभव है, वे इनके जीवन में उठें । कैसे उठें, क्या उठें, तंरगों का कुछ पता नहीं चलता । इनकी यह वस्तु आज की नहीं, पुरानी वस्तु है। साधना के क्षेत्र में यह एक बड़ी विलक्षण वस्तु है कि जहाँ रसतत्व और ब्रह्म तत्व एक दूसरे के अ-प्रतिद्वन्द्वी होकर एक साथ एक रूप में रहते हों । ऐसा नारदादि ऋषियों में था । भगवान शंकराचार्य में भी ऐसा माना जाता है । ये उदाहरण है विरल बहुत ही कम । इससे लोगों को शिक्षा लेनी चाहिए ।"

महाभाव दिनमणि
श्री राधाबाबा

दूसरा भाग

श्रीकृष्ण-दर्शन, गीता तत्व विवेचनी का कार्य,
रसोदय का प्रभात
श्री पोद्दार महाराज के साथ जीवनव्यापी एकात्मता
सन् १९३६ से १९४० ई. तक

पु. श्री राधा बाबा के आराध्य इष्ट

क्षण एक हुआ था आई ही पिञ्जर परिसर में थी प्रियतम !
उसके काले घेरे का था छू गया अंश मुझ से प्रियतम !
ऐसी प्रतीति उस समय हुई मानो चिर परिचित था प्रियतम !
सुन्दर वह नित्य भवन मेरा, भूला-सा हुआ अभी प्रियतम ! ।।१३।।

एक क्षण ही हुआ था, मैं विहगी पिंजर-परिसर (गीतावाटिका) में आयी ही थी, कि पिंजर (श्रीपोद्दार महाराज) के शरीर के काले घेरे का एक अंश मुझ से छू-भर गया । अर्थात् आते ही उन्होने मुझ सन्यासी की मर्यादानुसार चरणस्पर्श करके मुझे छू-भर लिया, उस समय ऐसी प्रतीति हुई - यह पिंजरा (पोद्दारजी का देह) तो मेरा चिरपरिचित सुन्दर भवन है, यह तो मेरा नित्य का घर है, परन्तु अबतक तो यह मेरे द्वारा भूला हुआ ही था ।। १३।।

द्वादशी प्रदोष समय आश्विन शुक्ला की यह घटना प्रियतम !
तेइस वर्षों से पहले की वैसी ही दीख रही प्रियतम !
पर जो फुलेल का ही करके आचमन कहे मीठा प्रियतम !
देना फिर उसको पुष्पसार केवल गँवारपन है प्रियतम ! ।।१४।।

आश्विन शुक्ला द्वादशी, प्रदोष समय की यह घटना थी, तेईस वर्ष पहले की - मुझे ज्यों-की-त्यों वैसी ही दिखाई दे रही है। परन्तु जो फुलेल (चमेली के तेल) का आचमन करके उसे ही मीठा कहकर सराहे, हे प्रियतम ! उसे फिर पुष्पसार-इत्र देना तो केवल गँवारपना ही है ।। १४।।

दोहा प्राचीन एक कविका है भाव लिये ऐसा प्रियतम !
जो है घट चुका सत्य बनकर कुछ वर्ष अभी पहले प्रियतम !
जीवन में इस विहंगिनी के कर करके व्यथित इसे प्रियतम !
कम-से-कम नौ-दस बार, अत: रुक रही गिरा अब है प्रियतम ।१५।

यह प्राचीन कवि का दोहा है परन्तु कुछ वर्ष पहले इस विहंगिनी के जीवन में सत्य बनकर घट चुका है। कम-से-कम नौ-दस बार इसे व्यथित कर-करके ऐसी घटनाएँ घटी हैं, अब वाणी कुछ कहने के पूर्व रुक रही है। ।।१५।।

जो समझ सके, समझे इसको आगे चलती मैं हूँ प्रियतम !
छब्बीस पहर की सरस विरस अनुभूति न कहकर ही प्रियतम !
समला प्रवाहिनी क्षुद्र एक जो थी उसके तट की प्रियतम !
बातों को छूती हुई तनिक दाँयें बाँयें मुड़ती प्रियतम !।।१६।।

जो इसे समझ सके, समझे । मैं अब जो एक क्षुद्र समला (मैली) नदी थी, (राप्ती) उसके तट की बातों को छूती हुई, तनिक दाँयें-बाँयें मुड़ती हुई, छब्बीस प्रहर की सरस-विरस अनुभूतियाँ न कहकर, आगे चलती हूँ । ।।१६।।

क्या से क्या कुछ दिन में ही था जीवन का हाल हुआ प्रियतम !
कैसे बह गयी ज्ञान-गरिमा इस नीली धारा में प्रियतम !
कैसे क्रमशः पिञ्जर में थी आसक्ति बढ़ी मेरी प्रियतम !
सुनने वाला न मिला इसको, सुनने वाली न मिली प्रियतम !।।१७।।

कुछ दिनों में ही मेरे जीवन का हाल क्या से क्या हुआ ? कैसे मेरी ज्ञान-गरिमा इस नीली धारा में सर्वथा बह गयी, कैसे क्रमशः मेरी इस पिंजर (पोद्दारमहाराज की देह) में आसक्ति बढ़ी, हे प्रियतम ! यह वार्त्ता न कोई श्रद्धापूर्वक मुझसे सुनने वाला ही मिला, न सुनने वाली ही मिली ।

उन दिनों गीतावाटिका अध्यात्म का जीवन्त स्थान थी । चारों ओर दूर-दूर तक आम, अमरूद, नासपाती और नारंगी के बगीचे थे । कोई अमरूद के वृक्ष के नीचे चटाई डालकर ध्यान कर रहा है और कोई आम्र वृक्ष के नीचे नाम-जप । प्रातः चार बजे से रात के ग्यारह-बारह बजे तक कथा, कीर्तन, सत्संग, प्रवचन और अखण्ड भगवन्नाम-संकीर्तन तो चौबीसों

घन्टों ही। इसी सबके मध्य सम्पादकीय-कार्य भी होता रहता था । समस्त वातावरण पूर्णतया प्राकृतिक, उन्मुक्त, सहज और भक्तिरस से ओतप्रोत था।

श्रीपोद्दारजी का शीलस्वभाव किसी को भी सहज ही आकृष्ट कर लेता था। उनकी वाणी इतनी मधुर, स्वभाव इतना स्नेहिल और व्यवहार इतना साधु था कि लगता था यह व्यक्ति इस पृथ्वी का नहीं है, गोलोक से उतर कर विश्व को प्रेम का पाठ पढ़ाने के लिये, अथवा रागद्वेष की महावह्नि में जलती हुई मानवता पर अमृत की वर्षा करने के लिये ही मनुष्य का शरीर धारण कर आया है।

उन दिनों वर्षभर का साधन-सत्र चल रहा था । लगभग सौ, डेढ सौ साधक व्रत लेकर साधन-भजन कर रहे थे । भारतवर्ष के सभी प्रान्तों के लोग थे । बिहार, बंगाल, पंजाब, गुजरात, महाराष्ट्र, मद्रास और राजस्थान के साधकों का अपूर्व संगम वहाँ देखने को मिलता था । एक किनारे भोजन-गृह था, सामूहिक भोजन की व्यवस्था थी, कुछ लोग बारह मास के लिये मात्र शाकाहार पर ही थे । उनके लिये शाकाहार की व्यवस्था थी; कुछ लोग अपनी स्वतंत्र पाक-व्यवस्था रखे हुए थे, उन्हें आटा, दाल, घी, सब्जी - सब सूखे सामान देने की भी व्यवस्था थी ।

भिन्न-भिन्न प्रकृति और रुचि के लोगों के मध्य ऐसी आत्मीयतापूर्ण पारिवारिक व्यवस्था थी कि सर्वत्र आत्मीयता और माधुर्य ही परिव्याप्त रहता था । ऐसा पवित्र और निराला वातावरण था कि इसके दिव्य-सौन्दर्य के सामने स्वर्ग भी तुच्छ था। लोगों को ऐसा ही अनुभव होता था। झाँझ, मृदंग, ढोल, करताल, पखावज, खोल के साथ चौबीसों घंटे खड़े हो-होकर नृत्य करते हुए उद्दाम कीर्तन होता था । वातावरण इतना सात्विक था कि इस पवित्र सत्संग में श्रीनारदजी एवं अंगिरा ऋषि भी पधारे थे।

बात यह हुई थी कि अपने पूर्व क्रान्तिकारी जीवन के कारण हुई नजरबन्दी के एक वर्ष के काल में, शिमलापाल में पू० श्रीपोद्दारमहाराज ने 'नारद-भक्तिसूत्रों' पर एक विस्तृत टीका लिखी थी । इधर सत्संग-सत्र में श्रीभद्भागवत की कथा श्रीशान्तनुबिहारी द्विवेदी कर रहे थे। यह कथा भी बडी गंभीर एवं सारगर्भित होती थी और उसमें नारदजी का उल्लेख एवं प्रसंग भी आ रहा था । इन सब बातों से पू० पोद्दारमहाराज के मन में नारदजी का सत्संग प्राप्त करने की बहुत ही तीव्र भावना हुई । रात्रि में श्रीपोद्दार महाराज को स्वप्न में दो तेजोमय ब्राह्मण-मूर्तियाँ दृष्टिगोचर हुईं । वे उन्हें

पहचान नहीं सके । परिचय पूछने पर उन्होनें बतलाया - वे नारद और अंगिरा ऋषि हैं । पीछे उन्होंने कहा - "हम कल दिन में तीन बजे तुमसे मिलने के लिये प्रत्यक्षरूप से आवेंगे ।" यह स्वप्न प्रायः जाग्रत् अवस्था के समय का था और इतना स्वाभाविक था कि श्रीपोद्दारजी को कोई भी सन्देह नहीं रहा । श्रीपोद्दारमहाराज ने पीछे बगीचे में इमली के पेड़ के नीचे एक कुटिया साफ करवाकर उसके सामने एक बैंच लगवा दी और उस पर दो आसन बिछवा दिये। उन्होंने अन्य किसी से इसकी चर्चा भी नहीं की । वे स्वयं अपने निवास के बाहर बरामदे में बैठ गये एवं उनकी प्रतीक्षा करने लगे।

ठीक तीन बजे दो ब्राह्मण आये और उन्होंने श्रीपोद्दारजी से मिलना चाहा। वे उन्हें पहचान गये । ठीक वही आकृति, वही स्वरूप, जैसा स्वप्न में उन्होंने देखा था । वे पीछे बगीचे में बढ़ने लगे और उनके पीछे-पीछे दोनों ब्राह्मण चलने लगे । सभी लोग उस एकान्त कुटिया में पहुँचे । श्रीपोद्दारजी उन दोनों को बैंच पर लगे हुए आसनों पर बैठाकर स्वयं नीचे बैठ गये । दोनों ब्राह्मण श्वेत वस्त्र पहने हुऐ थे । परन्तु आसन पर बैठते ही दोनों का वास्तविक रूप प्रकट हो गया । बहुत ही भव्य दर्शनीय रूप था। वे कुछ देर बैठे रहे और उनसे तात्विक वार्त्ताएँ हुईं ।

बात यह थी कि पू० श्रीपोद्दारमहाराज को वि० सं० १९७९ तदनुसार १९२३ ई० में बम्बई में भगवान् श्रीराम के दर्शन हो गये थे । भगवान् श्रीराम के दर्शनों के पश्चात् उनमें प्रगाढ़ ब्रह्मभाव का उदय हुआ एवं तत्पश्चात् आश्विन कृष्ण ६ वि०सं० १९८४ को जैसीडीह तदनुसार २ अक्टूबर १९२७ ई०, में भगवान् विष्णु के दर्शन हुए । श्रीसेठजी जयदयालजी गोयन्दका की यह मान्यता थी कि भगवान् विष्णु -- जिन्होंने पोद्दारजी को दर्शन दिये थे, वे मात्र इस एक ब्रह्माण्ड के पालनकर्ता अधिदेव थे । परात्पर परब्रह्म परमात्मा का यह दर्शन उन्हें नहीं हुआ था । इसके अनेक वर्षों पश्चात् लगभग १९३० ई० में उन्हें श्रीराधाकृष्ण के दर्शन हुए । इन श्रीराधाकृष्ण के दर्शन के पश्चात् वे निकुंजभाव की अति उत्कृष्ट महाभावमयी लीलाओं में प्रवेश पा गये थे । ये लीलाएँ इतनी दिव्य और रसमयी होतीं थीं कि चित्त इनमें रमकर प्रपंच को सर्वथा विस्मृत कर जाता था ।

परन्तु अद्वैतनिष्ठ महात्माओं के प्रवचन सुनने से उसमें उनका ऐसा सन्देह झाँक जाता था कि भगवान् विष्णु, राम, कृष्ण, राधा एवं गोपियों का स्वरूप कहीं मायिक तो नहीं है ?

अद्वैतवादी लोग एकमात्र ब्रह्मतत्व को ही सत्य बताते थे । इसी से उन्हें यह सन्देह उत्पन्न होता था । गोरखपुर आने के पश्चात् यह सन्देह बहुत कुछ नष्ट हो चुका था, पर फिर भी कभी-कभी लेशात्मक सन्देह की वृत्ति आ जाती थी ।

श्रीनारदजी से इनका जो भी विचार-विनिमय हुआ उसमें नारदजी ने इनके इस विश्वास को अमोघ और पूर्ण सुदृढ़ कर दिया कि सत्य एक है, तत्व एक है, वही सत्य - वही तत्व इन भगवत्स्वरूपों में नित्य प्रकट है । ये स्वरूप कभी प्रकट होते हैं और नष्ट हो जाते हैं या महाप्रलय में ये विनष्ट हो जाते हैं - ऐसी बात नहीं है।

महाप्रलय त्रिगुणात्मक प्रकृति में होता है । त्रिगुणात्मक प्रकृति जब साम्यावस्था में आती है, तब महाप्रलय होता है और सभी प्राकृत लोक एवं प्राकृत देवजगत् उसमें लय हो जाते हैं । प्रकृति के सम्बन्ध को लेकर जो भी जीव-जगत् है, वह सब उस समय उस प्रलय में लय हो जाता है। फिर भगवान् के संकल्प से सृष्टि आरम्भ होती है । तब वह जीवजगत् अपने पूर्व के अवशेष कर्मों को लेकर प्रकृति में फिर प्रकट होता है और जगत् का व्यापार फिर से प्रारम्भ हो जाता है ।

चिन्मय जगत् के जो भगवत्स्वरूप हैं, उनको किसी प्राकृत स्थान की आवश्यकता नहीं है । इसी प्रकार जो चिन्मय धाम हैं, वहाँ जो भगवत्स्वरूप हैं, उनको किसी मायिक आधार की आवश्यकता नहीं है । वे नित्य हैं, सत्य हैं उन लोकों में समस्त पदार्थ और प्राणी चिन्मय भगवत्स्वरूप ही हैं । वे महाप्रलय में नष्ट नहीं होते ।

वे अपरिसीम हैं - अनन्त हैं । श्रीव्यासदेव ने ऐसा ही माना है और भगवान् आदिशंकराचार्य ने भी ऐसा ही माना है । इनके पूर्व के ऋषि तो ऐसा मानते ही थे ।

भगवान् नारदजी से साक्षात् उपदेश प्राप्त करने के पश्चात् श्रीपोद्दारमहाराज का इस सत्य पर दृढ़ निश्चय हो गया कि उन्हें जो भगवल्लीलाओं की अनुभूति होती है और नारदभक्तिसूत्र में जिन गोपियों के अति उत्कृष्ट भगवत्प्रेम का वर्णन है वे गोपियाँ, वह भगवान् का लीलालोक,

वहाँ के पशु-पक्षी और तृणगुल्म, वृक्ष, कुंज-निकुंजादि, सब पदार्थ नित्य हैं, सत्य हैं, और सभी भूमि, भवन, सूर्य, चन्द्र, नभ, वायु - सब भगवत्स्वरूप ही हैं । वे प्रलय में नष्ट नहीं होते । ये चिन्मय हैं, इनमें कोई भेद नहीं; माया का इनके साथ कोई सम्बन्ध नहीं ।

जितने भी भगवत्स्वरूप हैं, उनमें जो परस्पर द्वन्द दिखायी पड़ता है - पुराणों में कहीं शिव की महिमा, कहीं विष्णु की महिमा, कहीं देवी की महिमा, कहीं श्रीकृष्ण की महिमा का वर्णन है, वह वहाँ वहाँ पर उस स्वरूप के महत्व को बतलाने के लिये है, न कि भगवत्स्वरूपों में परस्पर ऊँचा-नीचा भाव दिखाने के लिये है । बहुत स्थलों में ऐसी बात कही जाती है कि "जो विष्णु हैं, वे ही शिव हैं, देवी हैं और जो देवी हैं, वे ही शिव, विष्णु हैं, आदि-आदि। इसका यही तात्पर्य है कि सभी भगवत्स्वरूप चिन्मय हैं, एक ही भगवत्स्वरूप के अनेक नित्यस्वरूप हैं । अनेक स्वरूप बनते हों, सो बात नहीं है । श्रीकृष्ण बनते हैं, दुर्गा बनती हैं और राम बनते हैं, बिगड़ते हैं - सो बात नहीं है । वे सब नित्य एक ही भगवान् के स्वरूप हैं । एक ही तत्व विभिन्न रूपों में लीलायमान है ।

अतएव किसी को भी छोटा-बड़ा नहीं मानना चाहिए । जो जिस भगवत्स्वरूप की उपासना करता है उसे उस उपासना को छोड़ना नहीं चाहिए। उसे यही मानना चाहिए कि सब स्वरूप हमारे उपास्यदेव के ही हैं । इस मान्यता में अपने स्वरूप के प्रति पूर्णश्रद्धा भी हो गयी और अन्य स्वरूपों के प्रति विरोध भी नहीं हुआ ।

श्रीनारदजी ने पू० श्रीपोद्दारमहाराज की आस्था में यह बात कूट-कूटकर पूरी सुदृढ़ता से भर दी कि निर्गुण ब्रह्म और सगुण ब्रह्म दो नहीं है । निर्गुणब्रह्म शक्तिरहित नहीं है । शक्ति और शक्तिमान् दो पृथक् तत्व नहीं हैं । शक्ति शक्तिमान् में अभेद है । जहाँ शक्तिमान् है वहाँ शक्ति है ही और जहाँ भी शक्ति है वहाँ शक्तिमान् भी है। शक्ति एवं शक्तिमान् दो वस्तु नहीं, एक ही वस्तु है । साकार रूप में प्रकट होने पर शक्ति जहाँ क्रियारूप में लीला करती है वहाँ शक्ति के दर्शन होते हैं, निर्गुण तत्व में ऐसी क्रिया नहीं दिखायी देती । निर्गुण-निराकार ब्रह्म में शक्ति अन्तर्निहित है - शक्ति का अभाव नहीं है । अन्तर्निहित शक्ति होने से उसे निर्विशेष कहते हैं - निर्विशेष का अर्थ शक्ति राहित्य सर्वथा-सर्वथा नहीं है ।

संवत् १९९० वि०, तदनुसार ई० सन् १९३४ में श्रीपोद्दार महाराज रतनगढ़ में थे, उस समय शिवांक का सम्पादन हो रहा था । एक दिन इनके मन में प्रश्न उठा कि शिवतत्व ब्रह्मतत्व से और विष्णुतत्व से पृथक् है या एक है ? शास्त्रों में कहीं एकता की बात आयी है और जहाँ-तहाँ पार्थक्य की बातें भी मिलती है। कहीं विष्णु की महिमा आती है और कहीं शिव की महिमा आती है । मन में ऐसी जिज्ञासा उत्पन्न हुई और उसी दिन पू० पोद्दार महाराज को भगवान् शंकर के दर्शन हुए और वे देखते-ही-देखते विष्णु हो गये । विष्णु से पुनः शिव हो गये तथा दोनो ही रूपों में हँसते रहे । इसके पश्चात् दोनों ही विलीन हो गये और श्रीपोद्दारजी एक अनिर्वचनीय अचिन्त्य अवस्था में बहुत काल तक रहे । इस अनुभूति के आधार पर इनकी मान्यता सुदृढ़ हो गयी कि शंकर, विष्णु एवं ब्रह्मतत्व एक ही है ।

श्रीरामचरितमानस में श्रीतुलसीदासजी महाराज की भी यही अनुभूति और मान्यता थी - "सेवक स्वामि सखा सिय पीके ।" पद्म पुराण में भी यह उल्लेख है कि भगवान् राम शिव की उपासना करते हैं और शिव, राम की । शिव पुराण में तो भगवान् शिव का कथन है कि "मैं ही विष्णु बन जाता हूँ और मैं ही शिव बन जाता हूँ । दोनों एक ही हैं।" श्रीमद्भागवत में तो भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा भगवान् शिव की सकाम उपासना की गयी है, ऐसा उल्लेख है ।

इसी प्रकार शक्तिअंक की जब तैयारी हो रही थी उस समय श्रीपोद्दारजी को शक्ति-तत्व भगवती आद्याशक्ति की कृपा प्राप्त हुई और उन्होने भी उन्हें यही बताया कि वे ही निर्गुण-निराकार-निर्विशेष ब्रह्म शक्ति भी हैं ।

गीतावाटिका और श्रीपोद्दार महाराज का यहाँ यत्किंचित् जो वर्णन किया है, वह इसीलिये कि इसी गीतावाटिका में और इन्हीं पोद्दारमहाराज द्वारा पू० गुरुदेव को मात्र चरणस्पर्श करने के बहाने से उनके चरण नखों का स्पर्श करके महाभावगत-दिव्य-चिद्विलास का दान दिया गया । श्रीपोद्दारमहाराज ने स्वयं को ही पूज्य गुरुदेव के अन्तःकरण में मात्र चरणस्पर्श के बहाने स्थापित कर दिया । अतः उनके संबंध में इतनी बातें उल्लेख करनी परमावश्यक ही थीं ।

पू० पोद्दारमहाराज ने पू० गुरुदेव को चरणस्पर्श करके वह व्रजभाव का ककहरा पढ़ाया, फिर जो उनको अनुभूति करायी, उसकी कहीं कोई भाषा नहीं है । वह केवल अनुभवगम्य है। पू० गुरुदेव तो अब तक मात्र सोऽहं,

शिवोऽहं,आनन्दोऽहं ही पढ़े थे । इस शिवोऽहं, सोऽहं से श्रीपोद्दारमहाराज ले गये उन्हें- श्रीवृषभानुनन्दिनी के भावराज्य में - जहाँ अश्रुधारा की निरन्तरता में कभी विराम होता ही नहीं । श्रीपोद्दारमहाराज ने पू० गुरुदेव को घन-आनन्द, अखण्ड-आनन्द, मात्र-आनन्द, केवल-आनन्द, आनन्द ही आनन्द के राज्य से अनादि और अन्त-रहित क्रन्दन के राज्य में प्रवेश करा दिया । श्रीवृषभानुनन्दिनी कहती हैं, अविरल-अनवरत क्रन्दन ही मेरा जीवन है ।

"कोई बिरला होता है जो लेता है समझ इसे, प्रियतम !
हैं सुख अचिन्त्य हम दोनों के हँसने, उस रोने का, प्रियतम !"

श्रीपोद्दारमहाराज के पास पहले रघुजी नामके एक विरही संत रहते थे । वे बाईस-बाईस घंटों तक अनवरत रोया करते थे । श्रीचैतन्य महाप्रभु की अश्रुधारा तो बारह वर्ष तक सूखी ही नहीं । उनके जीवन का अन्त आ गया पर अश्रुधारा का अन्त नहीं । तो श्री पोद्दार महाराज ने मात्र अतिथिसत्कारोचित चरणस्पर्श करके पू० गुरुदेव को महाभावगत क्रन्दन दान कर दिया, धन्य है !

पू० गुरुदेव गोरखपुर पहुँचे थे आश्विन शुक्ल एकादशी के दिन । यह प्रसंग है शारदीय पूर्णिमा का, श्रीपोद्दारमहाराज जिस दिन वाराणसी से लौटकर आये, उसके पहले वाली रात्रि का । ब्रह्मनिष्ठ पू० गुरुदेव को रासपूर्णिमा से लेना-देना ही क्या था। कट्टर वेदान्ती गुरुदेव अपनी कुटिया में पुआल के गद्दे में बैठे हुए ब्रह्मतत्व के चिन्तन में लीन थे । जब ठीक मध्य रात्रि की बेला उपस्थित हुई, तभी उनके कानों में सुनायी पड़ने लगा -

हरे राम हरे राम, राम राम हरे हरे
हरे कृष्ण हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे ।।

पू० गुरुदेव जब ब्रह्मचिन्तन में एकाग्र होते थे तो बाहर चाहे कितना ही कोई कोलाहल हो, शब्द-विक्षेप उन्हें प्रायः नहीं होता था । अचिन्त्य की ही स्थिति में वे अधिकांश रहा करते थे । गलितकुष्ठ के रोगियों के मध्य कलकत्ते में जब वे गंगा के किनारे पड़े रहते थे, तो कोढी लोग परस्पर गाली-गलौज करते, परन्तु उन्हें शब्द-विक्षेप नहीं होता ।

परन्तु महामंत्र की इस मनोरम, मधुर सुरीली ध्वनि ने उन्हें ब्रह्मचिन्तन से हटाकर अपनी ओर आकृष्ट कर लिया । यह स्वर-लहरी किस दिशा से आ रही है और कौन इसे गा रहा है, यह जानने को उनका मन चंचल हो उठा । इतना ही नहीं इस मधुर ध्वनि के साथ पू० गुरुदेव स्वयं भी गाने लगे। पू० गुरुदेव का स्वयं का कण्ठ तो बहुत मधुर था ही । उस गायन के साथ-साथ ज्यों ही गुरुदेव ने गाना प्रारम्भ किया, उनके नेत्रों से अश्रुबिन्दु भी टपकने लगे और इतना ही नहीं, इन टपकते बिन्दुओं ने कपोलों पर प्रवाह का रूप धारण कर लिया । पू० गुरुदेव की यह भावपूर्ण स्थिति लगभग पन्द्रह मिनट तक रही एवं इस स्थिति का प्रभाव घन्टों ही बना रहा, यहाँ तक दूसरे दिन भी वे परम भावुक ही बने रहे ।

पू० गुरुदेव सोचने लगे, यह मुझे कैसा विक्षेप हो गया, मेरी तो हर समय समष्टि-आनन्द, समष्टि-चेतन में ही स्थिति बनी रहती थी । सन्यास लेने के पश्चात् पिता-माता के विकल रुदन से भी मेरी शुष्क उपराम वृत्ति में कोई कोमलता नहीं आयी । जब जगत् है ही नहीं तो कौन पिता और कौन माँ ? उनका सुबक-सुबक सिसकियाँ भरकर रोना भी मुझे मिथ्या, स्वप्नवत्, असत् ही भासता रहा, फिर यह आज मुझे क्या हो गया है ?

पू० गुरुदेव के लिये यह विचित्र, एवं नवीन अनुभव था । अगले दिवस भी वे इसी प्रकार से मसृण-चित्त ही थे, जब पोद्दारमहाराज उनसे वाराणसी से लौटकर मिलने आये । आते ही श्रीपोद्दारमहाराज ने पू० गुरुदेव से यह पूछा कि उनको कोई असुविधा, कष्ट तो नहीं हुआ ।

पू० गुरुदेव ने उन्हें अपने विक्षेप की बात ज्यों-की-त्यों निवेदन कर दी। श्रीपोद्दारमहाराज ने कोई सुन्दर प्रबन्ध कर देने का उन्हें तुरन्त आश्वासन दे दिया । उन्होने अनेक बातों को विचारने तथा कुछ स्थानों को देखने के बाद पू० गुरुदेव के निवास के लिये राप्ती नदी के किनारे श्रीहनुमानगढ़ी वाला स्थान निश्चय किया ।

गोरखपुर राप्ती नदी के तट पर ही बसा हुआ है । नदी के किनारे श्रीहनुमानगढ़ी एक निर्जन एवं नीरव स्थान है । गीतावाटिका गोरखपुर के उत्तरी छोर पर है तो श्रीहनुमानगढ़ी दक्षिणी छोर पर । यहाँ श्रीहनुमानजी का साधारण-सा मन्दिर है । गढ़ी के एक कमरे में पू० गुरुदेव के आवास की व्यवस्था कर दी गयी । नदी के तट पर यह एकान्त स्थान पू० गुरुदेव को अतिशय रुचिकर लगा ।

पू० गुरुदेव गीतावाटिका से श्रीहनुमानगढ़ी चले आये । श्रीसेठजी का आगमन अनेक कारणों से टलता गया । श्रीमद्भगवद्गीता की टीका के लेखन का कार्य लगभग एक-डेढ़ माह बाद आरम्भ हो पाया । इन दिनों गुरुदेव सोऽहम्, शिवोऽहम्, आनन्दोऽहम्, ॐ - इन्हीं मंत्रों का जप करते थे । वे जप के समय ब्रह्मभाव में इतने तल्लीन हो जाते थे कि उनकी भिक्षा शहर से कौन लाता है, कब लाता है, उन्हें ध्यान ही नहीं रहता था । जो भी भिक्षा लाता चुपचाप कमरे में थाली सरका देता और पू० गुरुदेव जितना एवं जैसा भी भोजन आता पेट में डालकर थाली धोकर पी लेते और थाली मलकर चुपचाप बाहर रख देते । जल के लिये उनके पास कमंडलु था, जिसे स्नान के पश्चात् धोकर, राप्ती के जल को छानकर वे भर लाते थे । ज्ञान में उनकी स्थिति लगभग चतुर्थ भूमिका की थी । प्रत्येक काल समष्टि-आनन्द, समष्टि-चेतन में ही उनकी स्थिति बनी रहती । स्नान करते, शौच जाते आदि कार्यकाल में भी क्रियासहित उन्हें जो कुछ भी भान होता था वह भी स्वप्न की तरह ही होता था । स्वप्नवत् भी मात्र आनन्द ही है, समष्टि-चेतन ही है । ऐसी स्थिति में भी कभी-कभी किसी समय सर्वथा अचिन्त्य अवस्था हो जाती थी । तब पू० गुरुदेव की कोई भी कार्य कर सकने की स्थिति भी नहीं रहती थी । श्रीहनुमानगढ़ी के महंतजी देखा करते कि तेज धूप एवं जलती रेत में भी पू० गुरुदेव जब राप्ती के मैदान में शौच के लिये जाते थे, तो घण्टों अचिन्त्य अवस्था में निष्क्रिय खड़े रह जाते थे । पू० गुरुदेव को जेल में विष दिये जाने के कारण पेट में जीवन-व्यापी आँव हो गयी थी, अतः उन्हें दिन में लगभग चार-पाँच बार शौच के लिये अवश्य जाना पड़ता था । जितनी बार वे शौच जाते, उतनी ही बार स्नान भी किया करते । उनको अचिन्त्य अवस्था में बाह्यज्ञानरहित, तेज धूप में राप्ती की रेत में घण्टों खड़े देखकर महन्तजी को बहुत कष्ट होता था । परन्तु पू० गुरुदेव भी निरुपाय थे और महन्तजी भी मात्र सहानुभूतिजन्य दुःख प्रकट करने के और कर ही क्या सकते थे ? अचिन्त्य अवस्था में कोई भी कार्य कर सकने की उनकी स्थिति नहीं रहती थी। सारे आकारों का भी खुली आँखों वृत्ति अभाव कर देती थी । फिर वह वृत्ति भी अचिन्त्य अस्तित्व में लीन हो जाती और केवल बोधस्वरूप आनन्दघन ही रह जाता था । उन दिनों पू० गुरुदेव की शरीर को सत्य मानकर तो शरीर में स्थिति कभी होती ही नहीं थी ।

एक दिन रात्री-स्नान करके जल से पूर्ण कमण्डलु हाथ में लिये हुए भीगे वस्त्रों में ही वे श्रीहनुमानगढ़ी वापस आ रहे थे । अपने अभ्यास के अनुसार 'सोऽहम्' का जप तो उनका छूट गया और शारदीयपूर्णिमा की मध्यरात्रि में जो जप पन्द्रह मिनट के लिये हुआ था, वही जप स्वतः होने लग गया । सोऽहम् के स्थान पर महामंत्र का अखण्ड जप अपने आप निरन्तर होने लगा।

श्रीहनुमानगढ़ी आकर पू० गुरुदेव ने भीगे वस्त्रों को बदला और दूसरे गैरिक वस्त्र धारण किये । वस्त्र परिवर्तन के पश्चात् पू० गुरुदेव ब्रह्म चिन्तन में पूर्णतया डूब जाने के लिये आसन पर विराजित हुए । श्रीहनुमानगढ़ी में बड़े-बड़े केले के वृक्ष लगे हुए थे । दो कदली-वृक्षों के मध्य उन्होंने अपना आसन स्थापित किया । पू० गुरुदेव पूर्वाभिमुख बैठे हुए थे और अपने स्वरूप-चिन्तन में तल्लीन होने की चेष्टा कर ही रहे थे, तभी अकस्मात् भगवान् श्रीकृष्ण हाथ में वंशी धारण किये आकाश में खड़े हुए उन्हें दिखलायी दिये ।

ज्योंही भगवान् श्रीकृष्ण की दिव्याकृति उनके सम्मुख प्रकट हुई उनके मन में तत्क्षण यह भाव आया कि यह मायाजनित है । यह तो मात्र उनका मन ही मिथ्या कल्पना-मूर्ति सृजन कर रहा है । अतिशय मिथ्या माया-राज्य की यह वस्तु मेरे समक्ष कहाँ से आ गयी ? अद्वैत-तत्ववादी पू० गुरुदेव ने बहुत ही चेष्टा की कि वह श्रीकृष्ण का मनोजनित रूप उनके सामने से हट जाय और वे अपने अचिन्त्य-पद में स्थित हो जावें, परन्तु वह गगनस्थ मूर्ति पू० गुरुदेव के सामने से न तो हटती थी, न ही वे ब्रह्मचिन्तन में ही लीन हो पाते थे । न ही पू० गुरुदेव हार मानने को प्रस्तुत थे, न ही वह गगनस्थ मूर्त्ति भी हटने को प्रस्तुत थी । पू० गुरुदेव लगभग दो-ढ़ाई घंटे प्रयास करते रहे । उनके प्रयासको ऐसी करारी हार कभी नहीं मिली थी । हार-थककर उन्होंने प्रयास ही छोड़ दिया । यह सगुण, साकार भगवद्स्वरूप द्विभुज-नवनीरदवर्ण नवकिशोर वंशीवादनरत था । वंशी का एक छोर इस किशोर के मुख में अधरों से सटा था और दूसरा उसका छोर सीधा खड़ा नाभि तक उसके उदर में लगा था । कदम्ब वृक्ष भी उसके साथ ही था । वह मूर्ति आकाश से धीरे-धीरे कदम्ब-वृक्षसहित उनके समीप आती गयी और तब उनके हृदय-देश में प्रवेश कर गयी । पू० गुरुदेव के हृदय में प्रवेश करते समय इसकी पीठ और कदम्ब वृक्ष उनसे सट गया । मूर्ति का मुख बाहर की

ओर रहा । उस श्रीविग्रह की कान्ति, छवि और शोभा इतनी अभूतपूर्व-अलौकिक थी कि वैसी शोभा न तो जीवन में उन्हें किसी भी तीर्थमूर्ति में मिली, न ही किसी चित्र में । जगत् का समस्त सौन्दर्य इकट्ठा कर लेने पर भी वह इसके समक्ष तुच्छ था ।

पू० गुरुदेव प्राय: यह कहा करते थे कि निसर्ग के कालमान में एक लवमात्र के लिये भी यह मूर्ति फिर उनके हृदय से कभी नहीं हटी । पू० गुरुदेव के जीवन में फिर एक महान् आश्चर्य और घटित हुआ कि जिस ब्रह्मसुख, ब्रह्मानन्द ने उनके जीवन को अब तक पूर्णरूपेण आत्मसात् कर रखा था, इस अलौकिक दर्शनजन्य सुख में वह ब्रह्मसुख पू० गुरुदेव पूर्णतया विस्मृत ही कर गये । वह इस सुख के सम्मुख उन्हें परम तुच्छ लगने लगा। उनका अन्तर्हृदय अनवरत यही पुकार कर रहा था कि उस पूर्ण-ब्रह्मानन्द को इस अपूर्ण दर्शनानन्द पर न्यौछावर कर दें । वास्तव में सत्य यह है - भगवान् श्रीकृष्ण का रूप, उनका वेणुवादन अथवा उनकी वाणी-शब्द, उनका संस्पर्श, उनके अंगों की चिन्मय दिव्य गंध - ये सब अप्राकृत मायातीत राज्य की वस्तुएँ हैं । अब तक पू० गुरुदेव आनन्दोऽहं जप करते हुए प्राकृत मन की अचंचल शान्तावस्था को ही प्राप्त कर पाये थे । यह घन-अचंचल शान्त मन:स्थिति ही तो उनका सोऽहं ब्रह्मभाव था । उनका प्राकृत अहं इसी शान्त चित् समुद्र में डूब गया था । परन्तु पोद्दारमहाराज जैसे रससिद्ध संत के संस्पर्श और संकल्प से भगवत्कृपाशक्ति ने उनकी गति मायातीत अप्राकृत राज्य में कर दी थी। जन्म-मरणधर्मा मानव का मन प्राकृत है एवं नरलीलारत भगवान् का सबकुछ अप्राकृत है । भगवदीय दिव्य रूप एवं दिव्य लीला के लिये अप्राकृत मन की ही आवश्यकता होती है । मानव के लिये उस अप्राकृत मन की प्राप्ति या तो भगवत्कृपा से संभव है अथवा अप्राकृत-दिव्यलीला में प्रविष्ट किसी संत की कृपा से ही यह असंभव संभव हो सकता है ।

श्रीपोद्दारमहाराज ऐसे ही अप्राकृत-लीलाराज्य में प्रविष्ट सिद्धसन्त थे और उनकी कृपा से पू० गुरुदेव को अप्राकृत मन की प्राप्ति हुई एवं तभी उन्हें भगवान् श्री कृष्ण का विशुद्ध सत्वमय अप्राकृतरूप-दर्शन संभव हुआ ।

पू० गुरुदेव के जीवन में एक और आश्चर्य घटित हुआ । उन्हें जब सर्वेश्वर, सर्वलोक-महेश्वर, योगेश्वरेश्वर भगवान् के दर्शन हुए - जो सब कुछ थे, सब कुछ से परे भी थे, सृष्टि-स्थिति-प्रलय जिनके हास्यछटा की

रेखायें भर थीं, और वे भगवान् जब उनके हृदय में प्रविष्ट हो गये और उनकी अहंता तथा बोधसत्ता को जब उन्होंने अपने में लीन कर लिया तो वे पू० गुरुदेव के "मैं" हो जाने चाहिए थे । हृदय में प्रवेश हो जाने का अर्थ तो यह था कि अब तक जो ब्रह्मधाम रहा, सच्चिदानन्दाकाश रहा, अथवा जो निर्गुण, निराकार, निर्लेप, निर्विशेष, निर्विकल्प एवं निर्मल सत्यधाम रहा, उसे 'सच्चिदानन्दकन्द-श्रीकृष्णचन्द्र' हो जाना चाहिए था । परन्तु ऐसा नहीं हुआ। वे श्रीकृष्ण गुरुदेव के 'मैं' न होकर 'मेरे' हो गये । श्रीकृष्ण पू० गुरुदेव के 'मैं' के अणु-अणु से एक होकर भी, उसमें पूर्णतया व्याप्त होकर भी उससे पृथक् उस 'मैं' के दृश्य ही बने रहे । श्रीकृष्ण द्रष्टा होकर भी दृश्य हो गये । परन्तु वह दृश्य इतना सर्वहारी था कि द्रष्टा उस दृश्य का बिना मोल का दास था ।

उन अप्राकृत लीला-वपुधारी श्रीकृष्ण के हृदय में प्रवेश करते ही पू० गुरुदेव की अहंता, उनका मन, चित्त, बुद्धि, सबकुछ अप्राकृत भगवल्लीलाराज्य की गोपी हो गया । 'गोपी' का अर्थ ही है - जो अपनी संपूर्ण अप्राकृत इन्द्रियों से अपने प्राणसारसर्वस्व नीलसुन्दर की सुख-सामग्री बन जाय । जिसकी नेत्रेन्द्रियाँ प्रियतम-प्राणवल्लभ श्यामसुन्दर के रूप की पूर्णतया चेरी हों, जिसकी श्रवणेन्द्रियाँ प्रियतम के शब्द-श्रवण में अति अधीर रहें, रोम-रोम उनके आलिंगन में गुँथे जाने को व्याकुल रहे । इतना सब होते हुए भी जिनमें लेशमात्र भी सुख-अनुसंधान की वृत्ति नहीं रहे, जिसका सब इन्द्रिय-व्यापार, मात्र प्रियतम सुखार्थ ही हो, स्वसुखार्थ नहीं । जिसका अहंकार नित्य, अखण्ड अपने प्रेमास्पद से मिला होने पर भी अमिलन की अग्नि में धू-धू धधकता रहे । विरहाग्नि जिसके चित्त को सदा ही नये-नये वेग से जलाती रहे । अपने प्रियतम का अखण्ड-मिलन भी जिसे अमिलन की नितनूतन व्यथा देता रहे । जो अखण्ड देखती हुई भी कभी न देखा हुआ अनुभव करे, पल-पल, निमेष-निमेष देखना ही चाहती रहे, नित्य मिली हुई अमिलन की अग्नि में धधकती रहे, जो नित्य सुनती हुई सुनना ही चाहती रहे । यही तो गोपी का पूर्णतया अनोखा पागलपन है ।

तजि जैहैं दुख-ध्यान मिलत, गये ज्वाला अमित
मिलन वियोग समान, राधा नहिं सुखिनी कबहुँ ।।
(पू० गुरुदेव की स्व-रचना)

किसी कविने गुरुदेवके उस समयकी चित्तदशा का सही चित्र खींचा है :-

निसि के जागत मिटि गयो उन सँग सुपन मिलाप ।
चित्र दरसहू कौं लग्यौ आँखिन आँसू पाप।
इन दुखिया अँखियान को सुख सिरज्यौ हू नाँहि ।
देखत बनै न देखते बिनु देखे अकुलाहिं ।।

वाह रे व्रजभाव, तेरी महाभावगत निर्मलतम दैन्य-पराकाष्ठा की बलिहारी है । जो आज तक पूर्णता के अखण्ड, अपरिच्छिन्न, अपार, असीम राज्य का एकछत्र अधिपति था, जिसकी पूर्णता अव्यय थी; पूर्णता में से पूर्णता को निकाल देने पर भी जिसकी गणित पूर्णता को ज्यों-की-त्यों सुरक्षित बची हुई पाता था, जो आज के कुछ ही दिन पूर्व तक अनन्त ब्रह्माण्डों को, उनके असीम माया-वैभव को अपनी दृष्टि के तिरमिरों की तरह तुच्छ, नगण्य, उपेक्षणीय मानता था - उसकी तूने क्या दशा की है ? संपूर्ण माया-वैभव से पूर्णतया विरक्त सन्यासी को किसी सिद्ध रसिक के संस्पर्श ने गोपवधुओं के लम्पट-शठ की दासी बना दिया, इससे बड़ा क्या आश्चर्य संभव है ? अपने हृदयहार नीलमणि की बिना मोल की दासी बने पू० गुरुदेव की क्या दशा है ? वे स्वयं ही अपने प्रियतम काव्य में कहते हैं :-

वह रात नहीं थी चार पहरवाली, जो मिट जाती, प्रियतम !
हैं सब कहते अनादि उसको जो पण्डित सच्चे हैं, प्रियतम !
होता है अन्त उसी के जीवन में उसका बस, हे प्रियतम !
जो रूप अनिर्वचनीय तथा अद्‌भुत अचिन्त्य देखे, प्रियतम ।।

पू० गुरुदेव कहते हैं यह अविद्यामूलक रात्रि चार पहरवाली रात नहीं है जिसका निश्चित समय में अन्त हो ही जाता है, यह तो ऐसी महारात्रि है जिसका तभी ठीक-ठीक अन्त माना जाता है, जब भगवान् का अचिन्त्य, अति अद्‌भुत (अप्राकृत, मायातीत), अनिर्वचनीय (अलौकिक) रूप उसे दृष्टिगोचर होता है ।

पू० गुरुदेव को उस सच्चिन्मय नीलमणि के अद्‌भुत, अनिर्वचनीय एवं अचिन्त्य रूप के दर्शन हो चुके थे । मात्र दर्शन ही नहीं, वह उनके

रोम-रोम में व्याप्त हो गया था। उनसे एकात्म हो, वह उनके प्राणों का, मन का, बुद्धि का, इन्द्रियों का - सबका एकछत्र स्वामी बन गया था। उसने उनके समग्र वायुमंडल को ही कृष्णरूप बना दिया था । फिर भी उसे तृप्ति कहाँ थी ? सबमें उसको देखना तो सबको बनाये रखना है । वे तो एकमात्र उसी में तन-मन रमा उसी के हुए, सबको और अपने आपको भी उसी में भूल गये थे। अतः माया-महारात्रि तो उनकी पूर्णतया विगत हो ही गयी थी । उनका देहाध्यास सर्वथा विगलित होकर उनमें भाव-देह व्यक्त हो गयी थी । पू० गुरुदेव का आत्मस्वरूप कैसा था उन्होंने अपना आत्म-परिचय अपने 'प्रियतम काव्य' में प्रथम शतक के प्रारम्भिक बारह छन्दों में किया है । वे छन्द यहाँ उद्धृत किये जा रहे हैं :-

इसलिये विहंगम सोये थे, पर थी जगती बाला, प्रियतम !
थी नींद नहीं आयी क्षणभर भी जीवन में उसके, प्रियतम !
झरती रहती आँखें, ज्वाला हृत्तल में थी जलती, प्रियतम !
था पास नहीं कोई उसके जो अश्रु पोंछ दे, हे प्रियतम ।।
रहते कुंचित काले हरदम थे केश खुले उसके, प्रियतम !
भीगा रहता परिधान नील नयनों की धारा से, प्रियतम !
उन जीर्ण हुए वातायन के रंध्रों से लगकर, हे प्रियतम !
देखा करती थी निर्निमेष लोचन से अम्बर को, प्रियतम ।।

घोर मायामयी अविद्या के प्रभाव से विहंगम सोये थे, किन्तु वह बाला तो ऐसी थी कि जिसे प्रपंच छू ही नहीं सकता था । उसके जीवन में उसके प्राणवल्लभ, जीवनसर्वस्व-प्रियतम, जबसे आ विराजे थे, तबसे क्षणार्द्ध-परिमित निसर्ग का कालमान भी उन्हें वहाँ से अपसारित नहीं कर सका था, फिर जहाँ नीलसुन्दर की इन्द्रनीलमणि द्युति से जिसका हृद्देश उद्भासित रहता है; अहर्निश, आठोंपहर दृगपुतलियाँ आलोकित रहती हैं - उनकी चरणनख-चन्द्रिका के आलोक से ही, उसे क्षणभर भी माया कैसे स्पर्श कर सकती है ? नींद तो उनको आती है, जो निसर्ग के दर्शन में रचे-पचे हैं, जिनके कण-कण में संसार धँसा है, परन्तु जिनके जीवन में जगत् का अस्तित्व सर्वथा, सर्वांश में मिट चुका है और जिनके हृत्-प्राण के आस्तरण पर उनका प्राणपति-प्राणाधार-प्राणसर्वस्व नीलम, मुनि-मन-हारी अप्राकृत छटा

बिखेरता हुआ शयित है, विराजित है, वहाँ जगत् एवं जगत् की नानी मायारूप निद्रा प्रविष्ट हो भी तो कैसे, उसे कहीं किसी भी ओर से द्वार मिले, तब न प्रवेश हो पावे उसका !

जब तक जागतिक प्रतिकूलता से मन अप्रभावित होता है, जब तक स्वप्न में भी काम के लेश की छाया है, जब तक जगत् की वस्तुओं में आसक्ति है, तभी तक किसी को यह मायारूप नींद आ सकती है परन्तु जब महदाश्रय और भगवत्कृपा के फलस्वरूप निशावसान होकर भगवदीय प्रकाश फैल जाता है, तब तत्व-साधनापूर्ण जीवन में पात्रता का कुछ-कुछ उन्मेष होता है, फिर भावमय जीवन का प्रारम्भ होता है, मायानिद्रा सदा-सदा के लिये विगत हो जाती है और व्रजभाव-भावित नित्य जागरण प्रारम्भ होता है । वह विलक्षण लोक है।

यहाँ अनन्त जाग्रत अवस्था है । यहाँ उस बाला की मनोदशा विचित्र है। उसकी अश्रुधारा की अनन्तता में कभी विराम होता ही नहीं । अविरल अनवरत क्रन्दन ही उसका जीवन है । वह क्रन्दन अनादि है और अन्त-रहित है । इस अश्रुप्रवाह में क्या सुख है, इसे तो वह बाला ही जानती है अथवा वे जानते हैं जिन्हें इस अवगाहन का, रस सागर में निमज्जन का सौभाग्य प्राप्त हुआ है ।

कोई विरला होता है जो लेता है समझ इसे, प्रियतम !
है सुख अचिन्त्य हम दोनों के हँसने, उस रोने का, प्रियतम !

तो बाला की आँखें अश्रुधारा की निरन्तरता में विराम करती ही नहीं । अहा ! कैसी विलक्षणता है, नेत्र हृद्देश को अश्रुधारा से सिक्त कर रहे हैं, फिर भी हृद्देश की ज्वाला शान्त नहीं होती । इस अश्रुधारा से शीतल होने के स्थान पर हृद्देश की ज्वाला और तीव्रगति से धू-धू जल उठती है । उसके अश्रु पौंछने वाला दूसरा हो ही कौन सकता है ? उसके प्रियतम नीलमयंक ही कहीं उसके पास हों, तो उसके अश्रु पौछें । उस नीलम-प्रियतम के समान कोई दूसरा सच्चा स्नेही तो न हुआ था और न ही होगा । उस नवनीरदवर्ण प्रियतम के सिवा उसको स्पर्श करने का साहस भी कौन कर सकता है ? उस प्रियतम से बंधन कराने के लिये ही उसके काले कुंचित-केश सदा उन्मुक्त और खुले रहते हैं । और इन काले केशों की उसे स्मृति ही कहाँ होती है, उसे तो इन काले केशों के रूप में भी उसके प्रियतम ही उसके कपोलों पर,

ललाट पर, आनन पर मँडराते अनुभव में आते हैं । यदि कोई सखी उसके इन घने काले सुन्दर केशों को बाँधने की चेष्टा भी करे तो वह उसे वर्जित कर देती है, अपने प्रियतम को किसी भी मर्यादा में, बंधन में बाँधना उसे कैसे रुचिकर हो । हाँ ! प्रियतम नीलसुन्दर ही स्वयं उसकी सरस प्रीति में बँध जाना चाहें तो वे इन्हें भले ही बाँधें, दूसरा इन्हें कैसे बाँध सकता है।

अपनी प्रीति के प्रासाद में वह बैठी है, जिसके वातायन जीर्ण हो चुके हैं, उसके रन्ध्रों से, छिद्रों से दृष्टि लगाकर वह निर्निमेष लोचनों से अम्बर को देखा करती है । वह अम्बर को मात्र इसीलिये ताकती है क्योंकि इसी अम्बर के नीचे कहीं-न-कहीं, किसी प्रणम्य देश में, उसके प्रियतम सुखमयी क्रीड़ा, केलि कर रहे होंगे । यह अम्बर अवश्य ही उन्हें देख रहा होगा । उसके प्रियतम कहीं भी हों, इस भाग्यवान अम्बर के नेत्रों से दूर तो वे हो ही नहीं सकते । तो वह अपनी दृष्टि का तादात्म्य इस अम्बर की दृष्टि से कर लेना चाहती है, जिससे उसके नेत्र भी अपने प्रियतम नीलम को सब समय निहार सकें । अहा ! इस महा-आकाश के एक कोने के नीचे, कहीं वन के किसी भाग में उसके नीलमयंक अवश्य ही त्रिभंगी मुद्रा में खड़े होंगे । उनके नवनीरदवर्ण श्रीअंगो पर पिंगल दुकूल झलमलाता होगा । गुञ्जा की माला उनके कण्ठदेश में शोभा पा रही होगी । मस्तक पर कुञ्चित केशराशि के साथ मयूरपिच्छ होगा ।

हाय ! उसके नेत्रों में अपने प्रियतम की छवि आते ही, अश्रुकण छलछला आये । आर्त्तचित वह रो पडी । उसका रुदन तो विराम पा ही नहीं सकता ।

रोती क्यों हूँ फिर मैं, इसका कुछ मर्म बताती हूँ, प्रियतम !
संकोच नहीं है तनिक मुझे इसके कह देने में, प्रियतम !
क्रन्दन अनादि यह है मेरा, होगा न अन्त इसका, प्रियतम !
तुम समझ सको तो लो समझो, जीवन यह है मेरा, प्रियतम ।।

भाई ! रुदन ही तो उसके प्राणनाथ को उसके पास खींचकर लाता है । यह व्यथा क्षण-प्रतिक्षण बढ़ती ही जाती है । हाय ! मेरे जीवन को ही धिक्कार है, जब मेरे प्रियतम मुझे दर्शन ही नहीं देते तो मैं उनके सुख-संवर्धन की हेतु कभी, किसी भी प्रकार हो ही नहीं पाऊँगी । फिर मेरे अस्तित्व का अर्थ ही क्या है ? यह निरर्थक भू का भाररूप जीवन तो अतिशय

धिक्कार का ही पात्र है । इन भावों से इस बाला की व्यथा, उसका क्रन्दन एवं हाहाकार अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है ।

तभी उसके प्राणरमण उसके नेत्रों के सम्मुख आ जाते हैं । अहा ! अपने अरुण कर सरोरूहों से जब वे उसके आँसू पौंछ रहे होते हैं, उस समय उनके नील-मुखमंडल का लावण्य, मधुरिमा, सरसता, कोमलता, कान्ति कैसी होती है, कौन बताये ? उनके प्राणों में भी अत्यधिक पीड़ा प्रसरित हो उठती है "हाय ! मैं अपनी प्राणेश्वरी प्रियतमा को सुख नहीं दे सका।" उनके नेत्र भी झर-झर आँसू की धाराएँ बहाने लगते हैं । अहा ! ये ही क्षण तो उसके मिलन के अथाह सुख को बढ़ाते हैं । और तब पुनः यह भाव उदय हो ही जाता है कि कुछ काल पश्चात् फिर प्रियतम से वियोग हो जायेगा । इस वियोग-संभावना की दारुण व्यथा से उसके और उसके प्रियतम दोनों के नेत्र पुनः बरसने लगते हैं । इस प्रकार यह क्रन्दन तो कभी विरमित न हुआ है, न होगा । यह उसके जीवन के साथ एकरस, एकभाव है । ऐसी है यह गोपी और ऐसा है उसकी प्रेम पाठशाला का ताना-बाना एवं ककहरा ।

स्वरचित चौपदों में जीवन का रहस्य

(यह एक सौ आठ चौपदों का काव्य पू० गुरुदेव ने पू० श्रीपोद्दारमहाराज को लिखाया था जिनमें से पाँच चौपाये यहाँ उद्धृत हैं ।)

वंदन है शत-सहस्रशः उस धरणी के रज कण को प्रियतम !
पिञ्जर वह इन्द्र नीलमय है शोभित हो रहा जहाँ प्रियतम !
आकर्षण अभिनव वह उसमें है अब तक भरा हुआ प्रियतम !
मोहित हो जिससे थी उतरी नभ से विहंगिनी मैं प्रियतम ! ।।१।।

पू० गुरुदेव कहते हैं - "उस धरणी के रजकण की शत-सहस्रशः वन्दना है जहाँ हे प्रियतम ! वह इन्द्र-नीलमय पिंजर शोभित हो रहा है । उस पिंजर में अब तक भी एक अभिनव, नित्य नवनवायमान आकर्षण भरा हुआ है, जिस आकर्षण से मुग्ध हुई मैं विहगी, हे प्रियतम ! आकाश से नीचे उतर आयी ।

पा सकी न अहो ! गन्ध भी यह उस समय तनिक ऐसी प्रियतम !
निर्माण किया है तुमने ही इसको, अपने कर से प्रियतम !
किञ्चित् सा उपादान लेकर अपने ही उस तन से प्रियतम !
नीलिमा अनिर्वचनीय नित्य वह है अचिन्त्य जिसमें प्रियतम ! ।।२।।

उस समय, अहो प्रियतम ! मैं ऐसी तनिक भी गन्ध नहीं पा सकी कि इस पिंजर को तुमने ही अपने स्वयं के करों से निर्माण किया है । हे प्रियतम ! इस पिंजर का उपादान तुमने अपने ही उस तन से लिया है जिस तुम्हारे तन में नित्य अनिर्वचनीय एवं अचिन्त्य वह नीलिमा है ।

थी श्रमित हुई उड़ती उड़ती निस्सीम गगन तल में प्रियतम !
मेरे ही साथ सदा तुम थे हँस हँसकर खेल रहे प्रियतम !
समझाते पुनः पुनः तुम थे 'प्रियतमे ! चलो बैठें' प्रियतम !
छूटी न किंतु हठ उड़ने की जो है स्वभाव में ही प्रियतम ! ।।३।।

अहा ! उस समय निस्सीम गगन तक उडती-उडती मैं श्रमित हो गयी थी और तुम तो नित्य मेरे सखा मेरे साथ सदा ही रहते हो- हँस-हँस कर उस समय भी खेल रहे थे । तुम मुझे बार-बार समझाते थे प्रियतमे ! चलो बैठें। परन्तु मेरे स्वभाव में ही उड़ने की जो हठ है वह तुम्हारे कहने के उपरान्त भी छूटी नहीं ।

फिर, हुए अधीर मुझे अतिशय देखा जब थकी हुई प्रियतम !
कौशल अपना कर, जाल नया फैलाया क्षण में ही प्रियतम !
सहसा अवनी की ओर दृष्टि मेरी गड़ गयी तथा प्रियतम !
दीखा श्यामल सुन्दर पिञ्जर अब तो गति रुद्ध हुई प्रियतम ! ।।४।।

फिर मुझे अतिशय थकी हुई तुमने देखा तो कौशल अपनाकर एक क्षण में ही नया जाल फैलाया । मेरी दृष्टि नीचे अवनी की ओर गड़ गयी और ज्यों ही श्यामलसुन्दर पिंजर दिखा अब तो मेरी गति रुद्ध हो गयी ।।४।।

ढ़ल पड़ी निकट आकर, फेरी दो-चार बार उसकी, प्रियतम !
दी, और अचानक यन्त्रित सी घुस पड़ी भला उसमें प्रियतम !
हो गया द्वार बस, रुद्ध और फँस गयी चंचला मैं प्रियतम !
विश्राम सदन में मुझको तुम लाकर इस भाँति हँसे प्रियतम ! ।।५।।

मैंने उस पिँजरे की दो-चार बार फेरी दी और उसके निकट आकर उस पर ढ़ल पड़ी, फिर अचानक यंत्रित-सी भला उसमें घुस पड़ी और मेरे घुसते ही उसका द्वार बस रुद्ध हो गया और मैं चंचला पक्षी फँस गयी । इस प्रकार मुझको विश्राम-सदन में लाकर तुम हँस उठे ।

अहा ! लाखों प्रणाम हैं इस गीतावाटिका के धूलि-कणों को जहाँ इन्द्रनीलमय नवनीरदवर्ण पिँजरा (श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार महाराज का देह) शोभित हो रहा है । अहा ! इस नवनीरदवर्णवपु श्रीपोद्दारमहाराज रसराज में कैसा नित्य नवनवायमान आकर्षण भरा हुआ है, जिस आकर्षण से पू० गुरुदेव-रूप विहगी परात्पर- परब्रह्माकाश में उड़ती हुई नीचे उतर आयी। जब वह इस पोद्दारमहाराजरूप पिंजरे के समीप आयी थी तब उसे इस बात की गन्ध भी नहीं थी कि इस देहरूप पिंजरे का निर्माण अप्राकृत तत्व रसराज श्रीकृष्ण के तन की सच्चिन्मयी, अचिन्त्य, अनिर्वचनीय नीलिमा के उपादान से हुआ है तथा इसकी रचना स्वयं श्रीकृष्ण ने अपने हाथो से की है । यह किसी प्राकृत जगत् के अविद्यामय उपादान पंचभूतों से प्राकृत सृष्टा ब्रह्मा द्वारा पूर्वकर्म-प्रारब्धानुसार नहीं बनाया गया है । उस समय पू० गुरुदेव सच्चिदानन्दाकाश, ब्रह्मभावरूप सीमाहीन नभ में उड़ रहे थे । यद्यपि वह उडान अखण्ड आनन्द भरी ही थी, फिर भी उड़ना तो उड़ना ही है, उसमें साधनजन्य श्रम तो होता ही है, अत: उड़ती-उड़ती वह विहगी श्रमित हो गयी थी । उस समय प्रियतम श्रीकृष्ण जो पू० गुरुदेव के नित्य सखा हैं, साथ ही जो उनकी अहंता के अनादि-अनन्तकाल के साक्षीरूप साथी बने उनके संग ही हँस-हँस कर खेल रहे थे एवं बार-बार पू० गुरुदेव को समझा रहे थे- "प्रियतमे, बैठें, आओ, भक्तिरूप धरती पर उतर कर विश्राम करलें ।" परन्तु अपने नित्यसखा के कहने के उपरान्त भी पू० गुरुदेव की अद्वैत-ज्ञान की हठ छूटी नहीं क्योंकि उनका जन्मगत स्वभाव ही महा-हठी था ।

तब हेतुरहित, अकारण करुणावरुणालय, नित्यसखा भगवान् श्रीकृष्ण ने उन्हें अतिशय थकी समझ एक चतुराई, कुशलता का खेल किया और एक क्षण

में ही उन्हें फँसाने के लिये एक नया जाल श्रीसेठजी जयदयालजी गोयन्दका के विचारों की श्रीमद्भगवद्गीता की टीका लिखाने का फेंक दिया । पू० गुरुदेव की दृष्टि सहसा गोरखपुर आने की ओर हो गयी और गोरखपुर-रूप अवनी पर आते ही वह श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दारमहाराज-रूप श्यामल, सुन्दर, रसमय पिंजरा दिख गया । पू० गुरुदेव को श्रीकृष्ण के दर्शन हो गये । श्रीपोद्दार महाराज ने चरणस्पर्श करके ज्यों ही पू० गुरुदेव को अपने आत्मस्वरूप रसराज श्रीकृष्ण का दान दिया कि उनकी गति रुद्ध हो गयी । उन्होंने तो गीता की टीका लिखने का संकल्प ही कर लिया था, अत: श्रीसेठजी जयदयालजी गोयन्दका के संग ढाई-तीन वर्ष व्यतीत करने पड़े और इस बीच श्रीपोद्दारजी से भी यदाकदा मिलन होता रहा, इस प्रकार इस पिंजरे की कुछ परिक्रमायें हुईं और उस विहगी (पू० गुरुदेव) की रुचि रसराज श्रीपोद्दारजी पर ढ़ल पड़ी । फिर यंत्रित-सी उसे इस पिंजरे में घुसना ही पड़ा । बस ज्यों ही पू० गुरुदेव पू० पोद्दारमहाराज के सचल-वृन्दावनरूप इस पिंजरे में उनके साथ शेष जीवन बिताने का संकल्प लेकर घुसे कि निकलने का द्वार ही रुद्ध हो गया और पू० गुरुदेवरूप चंचला विहगी (विहंगम) इस श्रीकृष्णप्रेमरूप पिंजरे में फँस गयी और इस विश्राम-सदन में पू० गुरुदेव को लाकर श्रीकृष्ण हँसने लगे ।

हनुमान गढ़ी का निवासकाल

(आन्तरिक दशा)

गोरखपुर में हनुमानगढ़ी नामक स्थान में पू० गुरुदेव को श्रीसेठजी जयदयालजी गोयन्दका की प्रतीक्षा में लगभग तीन-चार माह निवास करना पड़ गया। श्रीसेठजी अन्य आवश्यक कार्यों में उलझे रहे और उनका गोरखपुर-आगमन लगातार स्थगित होता ही गया । पू० गुरुदेव की आन्तरिक दशा इस काल में परम विलक्षण थी । उन्हें अपने में स्त्रीत्व की ही अनुभूति होती। उन दिनों पू० गुरुदेव अति विरक्तावस्था में मात्र दो कोपीन ओर दो ही अधोवस्त्र रखते थे । उनके अधोवस्त्र घुटनों के ऊपर-ऊपर ही आ पाते थे। उनकी चौड़ाई यथावश्यक कम ही होती थी । इसी प्रकार उनकी लम्बाई भी बस आवश्यकताभर ही होती थी । जब तक वे पुरुष भाव में थे, उन्हें इन

वस्त्रों में कहीं भी आने-जाने में कुछ भी संकोच नहीं होता था । परन्तु अब उन्हें इन लघु-वस्त्रों में लज्जा का अनुभव होने लगता । वे बार-बार अपने आपको समझाते कि उनका भावदेह मात्र नारी का है, प्रकटदेह तो पुरुष का ही है, परन्तु नारीभाव का उद्दीपन उनके इस तर्क का खण्डन कर देता था ।

उन दिनों जब प० पू० गुरुदेव हनुमानगढ़ी में रहते थे, उन्हें भिक्षा कराने श्रीघनश्यामदासजी जालान अथवा उनके परिवार का कोई व्यक्ति आया करता था । पू० गुरुदेव को भावतिरेक में जिस दिन भी श्रीजालानजी अथवा उनका कोई व्यक्ति श्रीकृष्णरूप में दिखता तब तो वे उनके सम्मुख बैठकर भिक्षा ले लेते थे, किन्तु जिस दिन भी उन्हें ऐसा अनुभव होता कि घनश्यामदास जालान भिक्षा लेकर आया है, उस दिन उन्हें उनके सम्मुख आने में भी संकोच होता तथा वे अपने कमरे का दरवाजा थोड़ा सा खोलकर मात्र थाली ही ले लिया करते एवं भोजन करके थाली खिसका देते थे ।

श्री कृष्ण के प्रथम दर्शन के पश्चात् उनका श्रीविग्रह जाग्रत एवं स्वप्न किसी भी अवस्था में उनके दृष्टिपथ से हटता नहीं था ।

पू० गुरुदेव के चित्त में जो डेरा जमाये हुए वैराग्य था, वह न जाने कहाँ चला गया ? उसकी उन्हें स्मृति ही मानो नहीं रही । अब तो उनके रुण्ड-मुण्ड मस्तक को छाये रहती जंघाओं तक लम्बी काली घुँघराली घनी केशराशि। उन्हें जो ब्रह्मानन्द स्वरूपता की अखण्ड स्मृति रहती थी वह भी विलुप्त हो गयी । शान्ति के स्थान पर चित्त में निरन्तर लहराती रहती थी प्रियतम मिलन की नयी नयी उमंग। वे कभी संयोग जन्य आनन्द से नाचते होते अथवा कभी विरह जन्य भीषण हाहाकार भरे रुदन से कलपते रहते । कहाँ तो ध्याननिष्ठा जन्य नेत्रों में एक प्रकार की स्थिरता थी, किन्तु अब उसके स्थान पर नेत्रों में अपने प्रियतम का पथ निरन्तर जोहने की आकुलता और विकलता भर गयी थी । नेत्रों से प्रेमाश्रु झरते ही रहते थे । उनके चित्त में नेह सुधा का सागर हिलोरें लेने लगता था । अहा ! भोग-राग के लेश से भी मुक्त रसतत्व से सर्वथा अबोध एवं बालवत् अनभिज्ञ, कठोर तरुण तापस की जो अपार ज्ञान की मञ्जूषा बना हुआ था, कैसी दशा हो गयी थी ।

दिवस रात आठों याम वे अपने प्रियतम को मन ही मन सम्बोधित करते रहते - "हे मेरे प्राणवल्लभ ! हे मेरे अप्रतिम सौन्दर्य-माधुर्य-सुधा-सिन्धु ! हे मेरे जीवन सर्वस्व !!! हे मेरे प्राणों के प्राण !! हे मेरे निरुपम प्रेम पयोधि !!!!

हे प्राणरमण !!!!! इस दासी के हृदय में सदा विराजित रहना । इसे त्यागना मत ।

वे इस बँगला गीत के रूप में अपने प्रियतम को अपने हृदय की बात सुनाते रहते ।

बंधु कि आर बलिब आमि ।
जीवने-मरणे जनमे-जनमे प्राणनाथ हैओ तुमि ।
तोमार चरणे आमार पराणे बाँधिल प्रेमेर फाँसी ।
सब समर्पिया एक मन ठैया निश्चय हैलाम दासी ।
भावि देखिलाम ए तीन भुवने आर के आमार आछे ।
राधा बलि केइ सुधाइते नाइ, दाँडाब काहार काछे ।
ए कुले ओ कुले, दुकुले गोकुले अपना बलिब काय ।
शीतल बलिया शरण लइनु, ओ दुटी कमल पाय ।
ना ठेलियो मोरे अबला बलिये ये हय उचित तोर ।
भाविया देखिनु प्राणनाथ बिने गति ये नाहिक मोर ।।
आँखिर निमिषे यदि नाहि देखि तबे से पराण मरि ।
चण्डीदास कय परश रतन गलाय गाँथिया परि ।

'मेरे प्रियतम ! और मैं तुम्हें क्या कहूँ बस इतना ही चाहती हूँ - जीवन में, मृत्यु में, जन्म-जन्म में तुम्ही मेरे प्राणनाथ रहना । तुम्हारे चरण एवं मेरे प्राणों में प्रेम की गाँठ लग गयी है । मैं सब कुछ तुम्हें समर्पित कर एकान्त मन से तुम्हारी दासी हो चुकी हूँ । मेरे प्राणेश्वर ! मैं सोचकर देखती हूँ -- इस त्रिभुवन में तुम्हारे अतिरिक्त मेरा कौन है, मैं किसके समीप खड़ी होऊँ ? 'राधा' बोलकर मुझे पुकारने वाला तुम्हारे सिवाय और कोई भी तो नहीं है ! इसकुल, उसकुल, दोंनों कुलों में एवं इस समस्त गोकुल में भी किसे मैं अपना कहँ ? सर्वत्र मात्र ज्वाला है, एकमात्र तुम्हारे युगल चरण कमल ही शीतल हैं । ऐसा जानकर ही मैं तुम्हारी शरण आयी हूँ ।

हे मेरे प्रियतम ! तुम्हारे लिये भी अब यही उचित है कि मुझ अबला को चरणों में स्थान दे दो । मुझे अपने शीतल चरणों से दूर मत फेंक देना । नाथ ! सोचकर देखती हूँ, तुम्हारे बिना अब मेरी अन्य गति ही कहाँ है ? तुम यदि दूर फेंक दोगे तो मैं अबला कहाँ जाऊँगी ? मेरे प्रियतम ! एक निमेष के